57/3-4
अनेकान्त

वीर सेवा मंदिर का त्रैमासिक

अनेकान्त

प्रवर्त्तक : आ. जुगलकिशोर मुख्तार 'युगवीर'

इस अंक में-

कहाँ/क्या?

वर्ष-57, किरण-3-4
जुलाई-दिसम्बर 2004

सम्पादक :
डॉ. जयकुमार जैन
429, पटेल नगर
मुजफ्फरनगर (उ.प्र.)
फोन: (0131) 2603730

परामर्शदाता :
पं. पद्मचन्द्र शास्त्री

संस्था की आजीवन सदस्यता 1100/-

वार्षिक शुल्क 30/-

इस अक का मूल्य 10/-

सदस्यों व मंदिरों के लिए नि:शुल्क

प्रकाशक :
भारतभूषण जैन, एडवोकेट

मुद्रक :
मास्टर प्रिन्टर्स-110032

विशेष सूचना : विद्वान् लेखक अपने विचारों के लिए स्वतन्त्र हैं। यह आवश्यक नहीं कि सम्पादक उनके विचारों से सहमत हो।

वीर सेवा मंदिर

(जैन दर्शन शोध संस्थान)

21, दरियागंज, नई दिल्ली-110002, दूरभाष : 23250522

संस्था को दी गई सहायता राशि पर धारा 80-जी के अंतर्गत आयकर में छूट

(रजि. आर 10591/62)

अध्यात्म-पद

ज्यों सुवास फल फूल में, दही दूध में घीव,
पावक काठ पषाण में, त्यों शरीर में जीव।

चेतन पुद्गल यों मिले, ज्यों तिल में खलि तेल,
प्रकट एकसे दीखिए, यह अनादि को खेल।।

वह वाके रस में रमें, वह वासों लपटाय,
चुम्बक करषै लोह को, लोह लगै तिह धाय।

कर्मचक्र की नींद सों, मृषा स्वप्न की दौर,
ज्ञानचक्र की ढरनि में, सजग भांति सब ठौर।।

—कविवर बनारसीदास
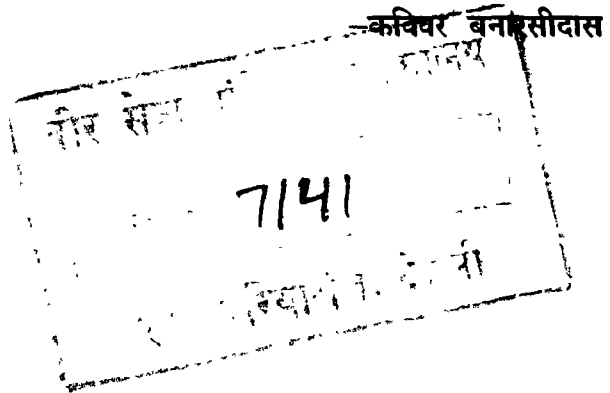
विचारणीय

दिगम्बरत्व को कैसे छला जा रहा है?

—पद्मचन्द्र शास्त्री

"भरते हैं मेरी आह को वोह ग्रामोफोन में।
कहते हैं फीस लीजिए और आह कीजिये।।"

हम 'अनेकान्त' में पहले लिख चुके हैं कि हमारे परमपूज्य मूल आचार्य पद्मनन्दि आचार्य (कुन्दकुन्द) स्वयं ही सीमंधर रहे। कुन्दकुन्द की विदेह के सीमंधर तीर्थंकर के पास जाने की कल्पना निराधार है और कुन्दकुन्द ने स्वयं भी कहीं उनका स्मरण नहीं किया है—वे बारम्बार श्रुतकेवली का ही उपकार मानते रहे हैं। फलतः उनके विदेह गमन की किंवदन्ती मात्र रही जो क्रमशः भिन्न-भिन्न कल्पित विरोधी कथाओं से गढ़ी जाती रही। हमें दर्शनसार की गाथा देखने में आयी। स्वयं देवसेनाचार्य ने लिखा है कि दर्शनसार संग्रह ग्रंथ है, उनका स्वयं रचित नहीं। उन्होंने संग्रह कहाँ से किया है इसका भी प्रमाण देखने में नहीं आया। तथाहि—

"पुव्वायरियकयाइं गाहाइं संचिऊण एयत्थ।
सिरिदेवसेणगणिणा धाराए संवसंतेण।।
रइओ दंसणसारो हारो भव्वाण णवसएणवए।
सिरि पासणागेहे सुविसुद्धे माहसुद्धदसमीए।।" —(दर्शनसार-49-50)

अर्थात् पूर्वाचार्यों द्वारा कही गयीं गाथाओं को इकट्ठा करके धारा में रहते हुए श्री देवसेन गणि के द्वारा भव्यजीवों के हाररूप दर्शनसार सं.-909 माघ सुदी दशमी को प्रसिद्ध पार्श्वनाथ मंदिर में रचा गया।

उक्त कथन से स्पष्ट है कि दर्शनसार ग्रंथ देवसेन गणि की मौलिक रचना न होकर पूर्व किन्हीं भिन्न-भिन्न आचार्यों द्वारा रचित गाथाओं का संकलित ग्रंथ है। जिसे लोगों ने देवसेन का स्वरचित मानकर प्रामाणिकता दे दी है। इसी आधार पर निम्न गाथा—

"जइ पउमणंदिणाहो सीमंधरसामि-दिव्वणाणेण।
ण विवोहइ तो समणा कहं सुमग्गं पयाणंति।।" –(दर्शनसार-43)

के गलत अर्थ को प्रामाणिक मानकर पद्मनन्दि आचार्य को सीमंधर स्वामी (विदेह के तीर्थंकर) के समीप जाने की मिथ्या कल्पना भी कर ली। जबकि उक्त गाथा से यही स्पष्ट होता है कि **पद्मनन्दि आचार्य ही सीमंधर विशेषण से युक्त थे** और उन्हीं ने दिव्यज्ञान के द्वारा मुनियों को सम्बोधित किया था न कि विदेह के तीर्थंकर सीमंधर स्वामी ने पद्मनन्दि आचार्य और अन्य श्रमणों को। गाथा के अन्वयार्थ से भी यही स्पष्ट होता है–

अन्वय– जइ सीमंधर सामि पउमणंदि णाहो दिव्वणाणेण
ण 'विवोहइ' तो समणा सुमग्गं कहं पयाणंति।

स्पष्ट है कि उक्त गाथा में सीमंधर स्वामी विदेह के तीर्थंकर नहीं अपितु पद्मनन्दि आचार्य स्वयं सीमंधर हैं क्योंकि उन्हीं ने ऐसे कठिन समय में जबकि श्वेताम्बरों ने धर्म की सीमाओं का उल्लंघन कर दिया था तब दिगम्बर धर्म की रक्षा के लिए आगमानुसार दिगम्बरत्व की सीमाओं का अवधारण किया और कराया–**"सीमां मर्यादां पूर्वपुरुषकृतां धारयति। न आत्मना विलोपयति यः सः तथा। कृतमर्यादापालके।"**

–(अभिधान राजेन्द्र)

अतः गाथा में सीमंधर स्वामी पद्मनन्दि का विशेषण है, न कि विदेह के तीर्थंकर सीमंधर के प्रसंग में।

यदि विदेह के तीर्थंकर सीमंधर स्वामी के पास कुन्दकुन्दाचार्य का जाना हुआ होता और उनसे उपदेश प्राप्त हुआ होता तो गाथा में क्रिया का रूप कर्मवाच्य होने के कारण **'विवोहिअ'** होता न कि कर्तृवाच्य का रूप **'विवोहइ'**। जबकि उपर्युक्त गाथा में कर्तृवाच्य के रूप का प्रयोग किया गया है, जिससे स्पष्ट है कि इसका प्रयोग पद्मनन्दि आचार्य के लिए ही किया गया है न कि विदेह के तीर्थंकर सीमंधर स्वामी के लिये। यदि पद्मनन्दि आचार्य विदेह के तीर्थंकर सीमंधर स्वामी से उपदिष्ट होते तो गाथा में कर्मवाच्य **'विवोहिअ'** का प्रयोग किया गया होता न कि कर्तृवाच्य के रूप **विवोहइ** का।

विदेह के तीर्थंकर सीमंधर स्वामी से कुन्दकुन्दाचार्य ने उपदेश ग्रहण किया

इस भ्रान्त धारणा के प्रचलित होने से लोगों ने विदेह के सीमंधर तक की मूर्ति यहाँ स्थापित कर दीं। वास्तविकता तो यह है कि कुन्दकुन्द का गुणगान करके कुछ छद्म लोग अपने स्वार्थों को सिद्ध करने के लिए कुन्दकुन्द के दिगम्बरत्व पोषक सिद्धान्तों का प्रच्छन्न विरोध ही करते रहे हैं। जबकि कुन्दकुन्दाचार्य ने–

"परमाणुमित्तयं पि हु रागादीणं तु विज्जदे जस्स।
ण वि सो जाणदि अप्पाणयं तु सव्वागमधरोवि।।"
"चारित्तं खलु धम्मो धम्मो जो सो समोत्तिणिदिट्ठो।
मोहक्खोह विहीणो परिणामो अप्पणो हु समो।।"

जैसी गाथाओं द्वारा रागादि के किञ्चित् मात्र भी होने पर आत्मज्ञान होने का सर्वथा निषेध किया है। तब भी ये कुन्दकुन्द के गुणगान का स्वाँग भरने वाले स्वार्थ सिद्धि के लिये गृहस्थ अवस्था में ही आत्मानुभूति की चर्चा करने लगे हैं; जो कुन्दकुन्द के दिगम्बरत्व सम्बन्धी सिद्धान्तों के सर्वथा विपरीत है।

आगम में मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय और केवल इन पाँच ज्ञानों का उपदेश है तथा यह भी उपदेश है कि इनमें से चार ज्ञान रूपी पदार्थो को जानते हैं अरूपी आत्मा को मात्र केवलज्ञान ही जानता है।

कहा गया है– **' रूपिष्ववधेः' 'तदनन्तभागे मनःपर्ययस्य'**

'सर्वद्रव्यपर्यायेषु केवलस्य'। ऐसे में छद्मस्थों को आत्मानुभव की बात करना आगम और पाठकों को धोखा देना और दिगम्बरत्व के विरुद्ध प्रचारमात्र है। इससे तो लगता है कि यह दिगम्बरों को नष्ट करने का सुनियोचित षड्यंत्र मात्र ही है। क्योंकि उन्हें तो परिग्रही को मुक्ति इष्ट है न कि कुन्दकुन्द के सिद्धान्त दिगम्बरत्व से।

यह मान्यता भी भ्रामक है कि व्यवहार नय सर्वथा मिथ्या होता है और निश्चय नय सम्यक् होता है तथा निश्चय नय को ग्रहण और व्यवहार नय को छोड़ना चाहिए। जबकि निश्चय नय से ग्रहीत पदार्थ का अनुभव केवली के सिवाय अन्य नहीं कर सकता। तथाहि–

सुद्धो सुद्धादेसो णादव्वो परमभावदरसिहिं।
ववहारदेसिदो पुण जे दु अपरमे ठिदा भावे।। –(समयसार-14)

छहढाला के पाठक इस पर विचार करें कि—**'सकल द्रव्य के गुण अनन्त पर्याय अनन्ता'** को प्रकाशित करने वाला निश्चय ज्ञान क्या छद्मस्थ को हो सकता है? यदि कहा जाये कि इनका अंशज्ञान तो हो सकता है, तो वह अंशज्ञान नयाधीन है प्रत्यक्ष नहीं है। यदि व्यवहार नय मिथ्या होता तो केवली भगवान के भी मिथ्यात्व का प्रसंग उत्पन्न हो जाता क्योंकि—

जाणदि पस्सदि सव्वं ववहारणयेण केवली भगवं।
केवलणाणी जाणदि पस्सदि णियमेण अप्पाणं।। —(नियमसार-154)

जब केवली भगवान स्वयं व्यवहार से जानते देखते हैं तब व्यवहार नय कैसे मिथ्या हो सकता है?

वीर सेवा मंदिर के संस्थापक श्री जुगलकिशोर जी मुख्तार द्वारा 1954 में की गई सम्भावना अब यथार्थ रूप धारण कर चुकी है। उन्होंने कहा था—"आप (कहान जी) वास्तव में कुन्दकुन्दाचार्य को नहीं मानते और न स्वामी समन्तभद्र जैसे दूसरे महान जैनाचार्यों को ही वस्तुतः मान्य करते हैं। क्योंकि उनमें से कोई भी आचार्य निश्चय व्यवहार दोनों में से किसी एक ही नय के पक्षपाती नहीं हुए हैं; बल्कि दोनों नयों का परस्पर सापेक्ष, अविनाभव सम्बन्ध को लिए हुए एक-दूसरे के मित्र के रूप में मानते और प्रतिपादन करते आए हैं। —(अनेकान्त/जुलाई/954, पृ.-8)

कुछ मिथ्याधारणा वाले चारित्र की उपेक्षा कर मात्र दर्शन के ही गुणगान को प्रमुखता देने में लगे हैं। जबकि कुन्दकुन्दाचार्य का स्वयं का कथन है—

दंसणणाणचरित्ताणि सेविदव्वाणि साहुणा णिच्चं।
ताणि पुण जाणि तिण्णि वि अप्पाणं चेव णिच्छयदो।।

अतः दर्शन ज्ञान चारित्र तीनों की प्रमुखता में व्यवहार चारित्र को दिखावा मात्र कहकर उसकी उपेक्षा करना शोचनीय और दिगम्बरत्वघातक है। आचार्य कुन्दकुन्द ने 'चारित्तं खलु धम्मो' की स्पष्ट घोषणा की है और चारित्र में व्यवहार निश्चय दोनों ही चारित्र गर्भित हैं।

—वीर सेवा मंदिर
21/4674 अंसारी रोड,
दरियागंज, नई दिल्ली-2

अभीक्ष्ण संवेग में जगत् स्वरूप का चिन्तन

—प्रोफेसर लक्ष्मीचन्द्र जैन

तत्त्वार्थ सूत्र में संवेग एवं जगत् स्वरूप के सन्दर्भ में मुख्यतः उल्लेख निम्न प्रकार है—

(1)

दर्शनविशुद्धिर्विनयसम्पन्नताशीलव्रतेष्वनतीचारोऽभीक्ष्णज्ञानोपयोगसंवेगौ शक्तितस्त्याग-तपसी साधुसमाधिर्वैयावृत्यकरणमर्हदचार्यबहुश्रुत प्रवचनभक्तिरावश्यक ।परिहाणिमार्गप्रभावनाप्रवचनवत्सलत्वमिति तीर्थंकरत्वस्य।

—6/24

(2)

जगत्कायस्वभावौ वा संवेग वैराग्यार्थम्

— 7/12

प्रथम सूत्र तीर्थंकर पदवी को इंगित करता है, द्वितीय ज्ञेय के समग्र को संवेग से जोड़ता है। अहिंसा अथवा राग द्वेष की समाप्ति की पराकाष्ठा तक ले जाता प्रतीत होता है।

इस प्रकार उपरोक्त विषय में जहां एक ओर आधुनिक मनोविज्ञान में संवेग की अवधारणा में नये रहस्य का हम उद्घाटन कर रहे होते हैं, वहीं खगोल विज्ञान के क्षेत्र में जगत् के समग्र स्वरूप का ज्ञेय रूप में श्रुत केवल ज्ञान की साक्षी में आगे बढ़ते हैं। निश्चित रूप से हमें उस दिशा में इस दार्शनिक चिन्तन को ले जाना होता है, जिस ओर नोबेल पुरस्कृत बरट्रेंड रसैल ने यूनानियों में गणितीय दर्शन का विश्व में प्रथम बार अवलोकन कर उसे अपनी अद्वितीय प्रतिभा में प्रिंसिपिया मेथामेटिका में विस्तार रूप से प्रस्तुत किया था।

किसी भी मूल सिद्धान्त (Principle) या विस्तृत सिद्धान्त (Theory) में प्रामाणिकता, अटूटता, निर्विवादिता तभी प्रवेश कर पाती है जबकि उसे गणित के सूत्रों में पिरोया जाये। जगत् के स्वरूप में कर्म सिद्धान्त की मौलिकता और उसमें भी गणित का आच्छादन, जैन धर्म भावना में एक नये आयाम व विद्या के रूप में लाये गये जो प्रतीकमय साधनों, सूत्रों द्वारा और भी गहरे ज्ञान के लिए अत्यंत विलक्षण और अप्रतिम पाये गये।

साधारणतः हमें पहले मन और चेतना में भेद करना सीखना होता है। जहाँ मन, वचन, काया योग में निमित्त होते हैं, वहाँ चेतना के तीन रूप देखने में आते हैं--कर्मफल चेतना, कर्म चेतना और ज्ञान चेतना। चिंतवन या चिंतन मन के आलम्बन से होता है। एक मन उस मस्तिष्क से सम्बन्ध रखता जो प्रशासकीय क्षमता की ओर बढ़ता है, दूसरा भाग विद्वत्ता की ओर बढ़ता है। जो विद्वत्ता की ओर बढ़ता है वह पुनः दो दिशाओं में से किसी एक को चुनता है—या तो वह तर्क की गहराई व विशालता की ओर बढ़ता चला जाता है अथवा वह प्रज्ञा द्वारा ली गई छलांगों द्वारा अल्प समय में आनुमानिक नतीजों पर पहुँच जाने की ओर बढ़ता चला जाता है। तर्क की गहराई व सुदृढ़ता एवं सम्पृक्तता की ओर रुचि रखने वाला मन अनेक जटिल समस्याओं को बीजगणित व जटिल अंकगणित की घबड़ा देने वाली गणनाओं में प्रवेश कर दूर तक सही सही उचित अंत तक पहुँचा देने की क्षमता प्राप्त कर लेता है। प्रज्ञा की ओर रुचि रखने वाला रेखाचित्रों आदि से सम्पूर्ण ज्ञेय को एकसाथ अपने में समाविष्ट, समन्वित कर लेता है। इस प्रकार चिन्तन में, भावनाओं को प्रबलतम बनाने हेतु इन दो उपायों का आलम्बन लिया जाता रहा है। तार्किक रूप बीजादिगणित के रूप में हमें केशववर्णी कृत गोम्मटसार की कन्नड़ में रचित टीका में करणादि विषय पर तथा लब्धिसार एवं क्षपणासार की टीकाओं में दृष्टिगत होता है। वहीं प्रज्ञाशील भावना के रूप का निखार ध्यान की ओर ले जाने के लिए यंत्रों तथा मंडलों के रूप में दिखाई देता है। इस प्रकार मन ने अपनी सीमा को अधिकतम रूपों में जो ले जाने का प्रयास किया है वह प्रत्येक सभ्यता वाले देशों में धर्म भावना के रूप में उच्चतम प्रयासों के रूप में देखा गया है।

धर्म भावना क्या मात्र: भ्रम ही है—अथवा उसमें कोई तथ्य भी हैं, क्या उसके उद्‌भव का कोई स्रोत अनादिकाल से रहा है—यह खोज का विषय भी बना जिस पर आइंस्टीन के समान माने जाने वाले प्रतिभावान् मनोवैज्ञानिक डॉक्टर फ्रायड ने विशेष कार्य किया। धर्म भावना प्रत्येक मानव में पाई जाती है—एक अनुभूति के रूप में, जो सर्वकालिक, सार्वभौमिक होती है। उस अनुभूति (feeling) होने के मुख्यतः तीन कारण बतलाये जाते हैं, जिन्हें कोई भी प्राचीन सभ्यताएँ या आधुनिक सभ्यता द्वारा निराकरण के अभूतपूर्व प्रयासों के बावजूद सफलताएं केवल सीमित रूप में ही उपलब्ध हुई या होती रही हैं—

1. प्राकृतिक प्रकोप—अकाल, बाढ़, महामारी आदि।
2. शरीर (काया) का नाशवान् होना।
3. मानवों के बीच सम्बन्ध—युद्ध, हत्याएँ, नरसंहार आदि।

भूकम्प, बाढ़, अकाल आदि प्राकृतिक प्रकोपों से या अन्य संकटमय परिस्थितियों से सुरक्षा की भावना स्वभावतः मानव को धर्म भावना की ओर ले जाती है, कोई ऐसी शक्ति की उपासना की ओर मन जाता है जो उन्हें संकटों से बचा सके। उसी के रूप को दिनोंदिन परिष्कृत किया जाता रहा और उस शक्ति को, चाहे वह किसी भी नाम से पुकारी जाय, प्रसन्न करने हेतु अनेक प्रकार के त्याग व बलिदान आदि की प्रथाएं चलती गईं।

आज भी विज्ञान के आविष्कारों की चरम सीमाएं देखते हुए कोई नहीं बचा सका शरीर या काया के विनाश को। अतः आत्मा (सत्) के अस्तित्व को मान्यता देकर उसमें अजरता व अमरता की अवधारणा से, कर्मजन्य काया से परे, शुद्ध रूप में उपलब्ध करने, धर्म भावनाएं विकसित हुईं।

इसी प्रकार कषायों या मोह से प्रतिबन्धित मन जो अनेक प्रकार से विकृत तथा विशुद्धि रूप परिणामों से सुकृत हुआ संसार के मानवों के मध्य विभिन्न प्रकार के सम्बन्ध स्थापित कर लेता है। परतंत्र हुआ मन, स्मृतियों के जाल में अहम, मम तथा रागद्वेष परिणतियों वश अनेक प्रकार के दुष्कर्म करता है, जो सामूहिक रूप में आने पर और भी अधिक भयानक युद्ध, आतंक, संहार आदि कृत्य करते देखे जाते हैं। समाज अपने सामूहिक मन से प्रतिबंधित

हुआ, दुष्ट से दुष्ट दण्डों की समायोजना करता है, जो किसी अन्य जोड़े, सुखी परिवार, दुःखी जीव समूह, समाज या देश विदेश को संकटापन्न अवस्था में लाने हेतु सक्रियता की सीमाएं बढ़ाता चला जाता है। सभ्यता की शिखर पर पहुँचकर भी इन स्थितियों से भागा नहीं जा सका। मन की इस प्रकार खंड, खंड रूप स्मृति आदि बिम्बों को वास्तविकता अथवा कार्मिकता कहा जा सकता है किंतु वह न तो समग्र है, न अखण्ड या निश्चल है, जैसा कि सत् या सत्य होता है। पर्याय या गुण दृष्टि सीमाओं से बंधी होती है अतएव द्रव्य दृष्टि के रूप की, पर्याय व गुण को लिए समग्रता रूप, जगत् का स्वरूप संवेग की ओर ले जाता है। उक्त संवेग धर्मभावना के उद्भव में कार्यकारी हो जाती है। संवेग निरंतर हो तो मंद, तीव्र, निश्चल रूप में अनुभूत होता रहता है। यह संवेग मनोयोग रूप न होकर चेतना रूप होता है।

जैसा कि हम पहले बतला चुके हैं कि चेतना तीन रूपों में कर्म निरपेक्ष होने से, होते हुए भी अपने तीन रूपों में विकसित होती है—कर्मफल चेतना (Subconscious) रूप में, कर्म चेतना (conscious) रूप में तथा ज्ञान चेतना (superconsciuos) रूप में। जहाँ मन कर्मों द्वारा, प्रकृतियों द्वारा, कषायों द्वारा प्रतिबंधित हुआ, सीमित उपलब्धियों वाला होता है, वहाँ चेतना स्वतंत्र रूप से मन के शांत होने पर उपस्थित हो जाती है। आलम्बन देने के लिए जो असीमित उपलब्धियों के प्रांगण में स्वमेव ले जाती है।

यही जगत् स्वरूप के चिन्तन का परिणाम है, जो ऐसे संवेग को उत्पन्न करने का सामर्थ्य रखता है जो दस लक्षणों वाले धर्म की ओर उन्मुख करता हुआ तीव्रतम कषायों को क्षीण एवं नष्ट करने में सहायक हो जाता है।

प्रश्न उठा है कि जगत् के स्वरूप को समग्र रूप में कैसे चिन्तवन में लाया जाये? एक तो तर्क का पथ है और दूसरा सरल प्रज्ञा का पथ जिसका अनुसरण अनेक योगी करते हैं। रेखाचित्र अनेक रंग मय, अनेक वर्णाक्षरों सहित, त्रिलोक को प्रकट करते हुए, तीनों लोकों के संभाव्य रूपों की कहानी दिग्दर्शित करते हुए निर्मित किये जाते हैं। पहले धारणाएं निर्मित की जाती हैं, फिर ध्यान की वस्तु बनायी जातीं हैं। धारणा का निर्माण चिंतन का फल

है। जगत् ज्ञेय रूप चिंतवन में आता है—अखिल सृष्टि को लिए हुए—उस ज्ञेय का ज्ञाता उक्त धारणा को अपने स्वरूप को ज्ञान रूप से समन्वित कर लेता है और ज्ञान, ज्ञाता, ज्ञेय के तीनों रूपों को अपनी धारणा में ले आता है। वहाँ संवेग चेतना मंद होती हुई लघु ज्ञान चेतना को स्थान देती चली जाती है और जीव प्रतीक्षा करता है कि कब कर्म लिप्ति (लेप) को जलाने के लिए ध्यान रूपी अग्नि रखकर तप की धौंकनी से शीघ्र ही आत्मा या चेतन को कर्म के जाल से मुक्त कर लिया जाये। चेतना को केवलज्ञान चेतना में परिणत कर लिया जाये।

अभीक्ष्ण संवेग की निरन्तरता में समष्टि की समग्रता का जो दृश्य उपस्थित होता है वह समय, प्रति समय के रूपांतरणों को सामने लाता है किन्तु उनमें एक छिपी हुई निश्चलता होती है जिसे Invariance कहते हैं। वही सत् की पहिचान का माध्यम बन जाती है। गणितीय दर्शन की यही उपलब्धि है कि वह निश्चलता से भिज्ञ कराने का सामर्थ्य रखता है। जैसे, भौतिकी में जब माइकेलसन, मोर्ले के प्रकाश गति संबंधी प्रयोग से एक अपनी सदी की विशालतम दुविधा (dilemma) उपस्थित हुई तो आइंस्टाइन ने छिपी हुई निश्चलता को खोज निकाला, विशिष्ट और व्यापक सापेक्षता का सिद्धान्त प्रचलित हुआ, अणुशक्ति का प्रादुर्भाव हुआ और अखिल विश्व में समग्र रूप से चित्रण करने वाले एक-सूत्री सिद्धान्त की रचना की ओर सभी महान् वैज्ञानिकों का ध्यान आकर्षित हुआ।

जगत् के गणितीय दर्शन में जो स्वरूप उपलब्ध होता है वह कर्म को व उसके सम्पूर्ण सिद्धान्त को विकसित करने में उसे गणितीय वस्तु बनाकर उसमें छिपी हुई निश्चलता को तर्क या बीजगणित तथा प्रज्ञा या अंक और रेखा गणित द्वारा खोजने का प्रयास होता चला गया। वह क्या है जिसका स्वरूप निश्चल रहता है, यह खोज शताब्दियों, युग युगान्तरों की खोज की सामग्री को विशाल रूप देती गयी जो गणित के आलम्बन द्वारा परिपुष्ट होती चली गयी।

जब चिन्तन चेतना में परिणत होता चला गया, तब संवेग निर्वेग में

परिणत होता चला गया, और इन सभी रूपान्तरों में मात्र एक निश्चलता अपनी स्वयं की भूमिका अति रहस्यमय रूप में निभाती चली गई। वहीं शृंखलाबद्ध शक्तियां भी मौन हुई रुकी रह गईं।

इस प्रकार निश्चलता की पहिचान व पकड़ इतना आसान कार्य नहीं है, जो आज के विज्ञान को चुनौती देने के लिए एक विशाल केन्द्रीय कर्म विज्ञान सम्बन्धी संस्थान के निर्माण की अपेक्षा रखती है, जो विश्व में अप्रतिम, अद्वितीय एवं अलौकिक हो। जहाँ उच्चतम मस्तिष्कों को सभी उपलब्ध लोकोत्तर एवं लौकिक ज्ञान, विज्ञान की सुविधाएं उपलब्ध होती रहें जो किसी काल या युग में लौकिक शासनों द्वारा दी जाती रही थीं। विगत शताब्दी में ऐसा प्रयास विलहैम कैंसर इंस्टिट्यूट, जर्मनी में तथा बाद में संयुक्त राष्ट्र अमेरिका में एलैक्जेंडर फ्लैक्सनर की प्रिंसटन की इंस्टिट्यूट ऑफ एडवांस्ड स्टूडीज (garden of the lonely wise) में किया गया, जहाँ आइंस्टाइन को ही सर्वप्रथम जोडने आमंत्रित किया गया।

ग्रंथ निर्देश

1. आचार्य उमास्वामि, तत्त्वार्थसूत्र।, 2. फ्रायड, सिविलिजेशन एण्ड इट्स डिस्गस्ट।, 3. बरट्रेंड रसैल, इंट्रोडक्शन टू मेथामेटिकल फिलासफी।, 4. जैन, एल. सी., ताओ ऑफ जैन सांइसेज।, 5. प्वांकरे, वेल्यु ऑफ सांइस।, 6. आइंस्टाइन, मीनिंग ऑफ रिलेटिविटी।

—निदेशक
गुलाब रानी कर्मा साइंस म्यूजियम
दीक्षा ज्वैलर्स, सराफा,
जबलपुर—482002

आचार्य मल्लवादी का नय विषयक चिन्तन

—डॉ. अनेकान्त कुमार जैन

आचार्य मल्लवादी जैन परम्परा में एक क्रान्तिकारी विद्वान् आचार्य हुये हैं। जैन दर्शन के चिन्तन के विकास में उनका महत्वपूर्ण योगदान है। उनकी प्रतिष्ठा एक गूढ़ जैन दार्शनिक के रूप में है।

आचार्य मल्लवादी ने नयों का विश्लेषण द्वादशार नयचक्र में एक अलग ही तरीके से किया है। मल्लवादी जैसी शैली इनसे पूर्ववर्ती आचार्यों में कम ही दिखती है, इसलिए मल्लवादी पूर्णतः मौलिक हैं। मल्लवादी के परवर्ती आचार्यो ने भी इस प्रकार की शैली का अनुसरण नहीं किया। मल्लवादी का समय विक्रम की 402 से लेकर विक्रम 482 तक निर्धारित किया गया है। मल्लवादी और आचार्य सिद्धसेन को समकालीन भी माना जाता है।[1]

आचार्य मल्लवादी का द्वादशार नयचक्र जैनेतर दर्शनों का समावेश की दृष्टि से विशेष महत्व का है, क्योंकि यह पूरा का पूरा ग्रन्थ सात नयों के बीच ही समस्त दार्शनिकों का समावेश प्रदर्शित करने के लिए लिखा गया है। अन्य जैनाचार्यों ने नयों में विभिन्न दर्शनों के समाविष्टं होने की चर्चा आनुसंगिक रूप में तो की है किन्तु इस विषय को ही अपना मुख्य विषय बनाकर विवेचन करने वाला अकेला द्वादशार नयचक्र ही है।

एक अपेक्षा से एक नय एक वक्तव्य देता है तो दूसरी अपेक्षा से दूसरा नय दूसरा वक्तव्य देता है जो पहले वक्तव्य का विरोधी वक्तव्य होता है अतः एक नय से दूसरा नय कट जाता है। इस स्थिति का लाभ उठाते हुए आचार्य मल्लवादी ने विभिन्न दार्शनिक प्रस्थानों को एक बारह अरों वाले चक्र के रूप में इस तरह प्रस्तुत किया कि एक नय की दृष्टि को मान्यता देने वाला

दार्शनिक प्रस्थान उसके विपरीत नय की दृष्टि को मान्यता देने वाले दूसरे दार्शनिक प्रस्थान के द्वारा खंडित कर दिया गया। परिणाम यह निकला कि कोई भी दार्शनिक प्रस्थान अपने विरोधी दार्शनिक प्रस्थान के सामने न टिक पाने के कारण सिद्धान्त रूप में स्थापित न हो सका और सभी दार्शनिक प्रस्थान एक दूसरे की अपेक्षा पूर्वपक्ष ही बन कर रह गये। ऐसी स्थिति में यह प्रश्न उपस्थित हुआ कि आखिर सिद्धान्तपक्ष है क्या? इस प्रश्न का उत्तर ध्वनित हुआ कि सिद्धान्त पक्ष वह है जो सभी नयों को, भले ही वे परस्पर विरोधी भी क्यों न हो, अपनी-अपनी अपेक्षा से मान्यता प्रदान करें और किसी एक नय के प्रति ऐसा पक्षपातपूर्ण दुराग्रह न रखें कि दूसरे नयों का अपलाप करना पड़े क्योंकि जैनदर्शन वही करता है इसलिए जैन दर्शन ही सिद्धान्त पक्ष बन जायेगा। जैन दर्शन को सिद्धान्तपक्ष के रूप में और सभी जैनेतर दर्शनों को पूर्वपक्ष के रूप में प्रस्तुत करने का यह प्रकार आचार्य मल्लवादी का अपना मौलिक है जिसका उपयोग उनके पहले वाले या बाद वाले किसी जैन आचार्य ने अब तक नहीं किया। इस संदर्भ में दलसुख मालवणिया का कथन है कि —'नयचक्र में जैनेतर मतों को ही नय के रूप में वर्णित किया गया है और उन मतों के उत्तरपक्ष, जो कि स्वयं भी एक जैनेतर पक्ष ही होते हैं—उनके द्वारा भी पूर्वपक्ष का मात्र खण्डन ही नहीं, किन्तु पूर्वपक्ष में जो गुण है उनके स्वीकार की ओर निर्देश भी किया गया है। इस प्रकार उत्तरोत्तर जैनेतर मतों को ही नय मानकर समग्र ग्रन्थ की रचना हुई है। यहाँ जैनेतर मत जो लोक में प्रचलित है उन्हीं को नय मानकर उनका संग्रह विविध नयों के रूप में किया गया है और किस प्रकार जैन दर्शन सर्वनयमय है यह सिद्ध किया गया है।'[2]

सिद्धसेन दिवाकर ने प्रसिद्ध सात नयों को ही दो मूल नयों में समाविष्ट किया है, किन्तु मल्लवादी ने नय विचार को एक नयचक्र का रूप दिया और चक्र की कल्पना के अनुरूप नयों का ऐसा वर्गीकरण किया है जो अन्यत्र देखने को नहीं मिलता। चक्र के बारह आरे होते हैं। मल्लवादी ने सात नयों में बारह दार्शनिक प्रस्थानों का समावेश किया, वे दार्शनिक प्रस्थान ये हैं[3] :-

1. विधिः, 2. विधि-विधिः, 3. विध्युभयम्, 4. विधिनियमः, 5. विधिनियमौ,

6. विधिनियमविधिः, 7. उभयोभयम्, 8. उभयनियमः, 9. नियमः, 10. नियमविधिः, 11. नियमोभयम्, 12. नियम-नियमः

मल्लवादी ने द्वादशार नयचक्र की रचना की तो उन बारह प्रस्थानों का सम्बन्ध उक्त दो नयों के साथ बतलाना आवश्यक था। अतएव आचार्य ने स्पष्ट कर दिया है कि विधि आदि प्रथम के छह प्रस्थान द्रव्यार्थिक नय के अन्तर्गत है और शेष छह प्रस्थान पर्यायार्थिक नय के अन्तर्गत हैं। आचार्य ने प्रसिद्ध नैगमादि सात नयों के साथ भी इन बारह प्रकार के प्रस्थानों का सम्बन्ध बतलाया है वह इस प्रकार है–[4]

प्रस्थान	नय	प्रस्थान	नय
1. विधिः	व्यवहारनय	7. उभयोभयम्	ऋजुसूत्रनय
2. विधि-विधिः	संग्रहनय	8. उभयनियमः	शब्दनय
3. विध्युभयम्	संग्रहनय	9. नियमः	शब्दनय
4. विधिनियमः	संग्रहनय	10. नियमविधिः	समभिरूढनय
5. विधिनियमौ	नैगमनय	11. नियमोभयम्	एवंभूतनय
6. विधिनियमविधिः	नैगमनय	12. नियमनियमः	एवंभूतनय

इस प्रकार आचार्य मल्लवादी ने पूर्वकथित द्रव्यार्थिक पर्यायार्थिक इन दो नयों तथा नैगमादि सप्त नयों में बारह प्रस्थानों को गर्भित किया।

आचार्य मल्लवादी ने विभिन्न जैनेतर भारतीय दर्शनों का समावेश इन बारह प्रस्थानों में किया है।[5] द्वादशार नयचक्र में उन्होंने चक्र या पहिये को प्रतीक स्वरूप मानकर संपूर्ण विषय वस्तु निरूपित की है। चक्र के आरे एक केन्द्र पर संलग्न होते हैं उसी प्रकार से ये सभी बारह प्रस्थान (बारह आरे) स्याद्वाद या अनेकान्त रूपी केन्द्र पर जुड़े हुये हैं। दो आरों के बीच जो अन्तर होता है उसमें मल्लवादी पूर्व नय तथा तदनुसारी किसी एक दर्शन का भी खण्डन करते हैं। फिर पुनः नये आरे में नये "नय" का तथा नये दर्शन की स्थापना करते हैं। द्वितीय नय प्रथम नय का निरास करके अपनी स्थापना करता है। फिर तृतीय नय का निरास करके चतुर्थ नय अपनी स्थापना करता है और इसी क्रम में ग्यारहवें नय का निरास करके बारहवां नय अपनी स्थापना

करता है– पुनः बारहवें नय की स्थापना को खण्डित करके प्रथम नय अपनी स्थापना करता है इस प्रकार यह विवेचन एक चक्र की भांति अनवरत घूमता हुआ प्रतीत होता है।[6]

आचार्य सिद्धसेन ने द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक नयों के माध्यम से कई भारतीय दर्शनों को समाहित करने का प्रथम प्रयास किस प्रकार किया है इस बात की चर्चा हम पूर्व में कर चुके हैं। अब यहाँ यह देखना है कि आचार्य मल्लवादी ने किन-किन नयों में किन-किन दर्शनों को समाहित किया है।

1. **व्यवहार नय** : इसके अन्तर्गत नयचक्र का प्रथम आरा विधि प्रस्थान आता है। यहाँ व्यवहार नय के आधार से अज्ञानवाद का उत्थान किया गया है। इस नय का अभिप्राय यह है कि लोक व्यवहार ही प्रमाण है तथा उसी से अपना व्यवहार चलाना चाहिए। लौकिक पुरुष का अर्थ चार्वाक ग्रहण किया जा सकता है। आचार्य मल्लवादी ने पूर्वमीमांसा को भी व्यवहार नय के अन्तर्गत ही ग्रहण किया है।[7]

2. **संग्रह नय** : इस नय के अन्तर्गत क्रमशः द्वितीय, तृतीय तथा चतुर्थ प्रस्थान अर्थात् विधि-विधि, विध्युभय तथा विधिनियम आते हैं। इसमें आचार्य ने द्वितीय आरे के अन्तर्गत प्रमुख रूप से पुरुषाद्वैतवाद की चर्चा की है।[8] तृतीय आरे के अन्तर्गत सांख्य तथा ईश्वरवाद का प्रमुखता से प्रतिपादन किया है।[9] चतुर्थ आरे के अन्तर्गत ब्रह्मवाद की चर्चा प्रमुख है।[10]

3. **नैगम नय** : नैगमय नय के अन्तर्गत पंचम और षष्ठ प्रस्थान अर्थात् विधिनियमौ तथा विधि-नियमविधि आरे आते हैं। इसमें आचार्य ने पंचम आरे के अन्तर्गत वैयाकरण दर्शन[11] तथा षष्ठ आरे के अन्तर्गत वैशेषिक दर्शन का प्रतिपादन किया है।[12]

यहां तक के नय तो द्रव्यार्थिक नय माने हैं तथा अब शेष को पर्यायार्थिक नय के अन्तर्गत गिना है।[13]

4. **ऋजुसूत्र नय** : ऋजुसूत्र नय के अन्तर्गत सप्तम उभयोभय प्रस्थान आता है। आचार्य ने इसके अन्तर्गत बौद्ध दर्शन के अपोहवाद की चर्चा की है।[14]

5. शब्द नय : शब्दनय के अन्तर्गत अष्टम प्रस्थान उभयनियम तथा नवम प्रस्थान नियम आते हैं। आचार्य अष्टम नय के अन्तर्गत बौद्धाचार्य दिङ्नाग के मत का प्रतिपादन करते हैं[15] तथा नवम आरे में अवक्तव्यत्व मत का प्रतिपादन किया है।[16]

6. समभिरूढ़ नय : समभिरूढ़नय के अन्तर्गत दशम प्रस्थान नियमविधि नय आता है जिसमें संभवतः आचार्य ने बौद्धधर्म के ही एक मत का प्रतिपादन किया है।[17]

7. एवंभूत नय : एवंभूत नय के अन्तर्गत एकादश-नियमोभय प्रस्थान तथा द्वादश नियम को लिया गया है। एकादश नय के अन्तर्गत क्षणिकवाद[19] का तथा द्वादशनय के अन्तर्गत शून्यवाद का प्रतिपादन किया गया है।

मल्लवादी के विवेचन की मौलिकता — इस प्रकार हम देखते है कि मल्लवादी ने तत्कालीन भारतीय दर्शनों को नय में समाहित करने का प्रयास किया। प्रस्तुत निबन्ध में परवर्ती जैन दार्शनिकों के मतानुसार हमने सातों नयों में विभिन्न दर्शनों का समावेश किया है। आचार्य मल्लवादी ने भी जैनाचार्यों के मतानुसार लिया है। जैसे—नैगम नय के अन्तर्गत परवर्ती दार्शनिकों ने वैशेषिक दर्शन को लिया, मल्लवादी भी नैगम नय के अन्तर्गत पांचवें और छठवें आरे को दर्शाते हुए छठवें आरे में तो वैशेषिक दर्शन को ले लेते हैं, किन्तु पांचवें आरे में वे वैयाकरण दर्शन को लेते हैं। यह मल्लवादी की अपनी विशेषता है। नैगम नय के अन्तर्गत वैयाकरण दर्शन को लेने की बात पूर्ववर्ती और परवर्ती किन्हीं भी आचार्यों ने नही कही। दूसरे संग्रह नय के अन्तर्गत परवर्ती आचार्यो ने सांख्य, ब्रह्मवाद और समस्त अद्वैतवादों को लिया। मल्लवादी ने द्वितीय, तृतीय तथा चतुर्थ आरे को संग्रहनय के अन्तर्गत लिया तथा अद्वैतवाद, सांख्य, ईश्वरवाद और ब्रह्मवाद का समावेश किया। यहां मल्लवादी ने सभी के अतिरिक्त ईश्वरवाद को भी रखा। व्यवहार नय के अन्तर्गत परवर्ती सभी दार्शनिकों ने मात्र चार्वाक को लिया है। मल्लवादी ने प्रथम आरे में उसकी स्थापना करके लौकिक पुरुष (जिसे हम चार्वाक कह सकते हैं) के अतिरिक्त अज्ञानवाद तथा पूर्व-मीमांसक को भी लिया है। इन दर्शनों को पूर्ववर्ती तथा

परवर्ती किन्ही भी जैन दार्शनिकों ने व्यवहार नय के अन्तर्गत नहीं लिया। यह समायोजन मल्लवादी का नितान्त मौलिक है। ऋजुसूत्र नय के अन्तर्गत पूर्ववर्ती तथा परवर्ती सभी दार्शनिकों ने बौद्धदर्शन को लिया, यहां मल्लवादी भी सातवें आरे में बौद्धदर्शन के अपोहवाद को ले रहे हैं।

यहां एक बात विशेष ध्यान देने योग्य है कि छठवें आरे तक तो द्रव्यार्थिक नय की चर्चा प्रमुख थी किन्तु अब शेष सातवें से बारहवें आरे में पर्यायार्थिक नय की दृष्टि से चर्चा की गयी है। परवर्ती सभी दार्शनिकों ने जहां एक तरफ शब्द नय, समभिरूढ़ नय, तथा एवंभूत नय इन सभी नयों की तुलना वैयाकरणों (व्याकरण दर्शन) के साथ की है वहीं पूरे जैन दार्शनिकों में मल्लवादी ही ऐसे प्रथम व अन्तिम दार्शनिक हैं जिन्होंने इन तीनों नयों में बौद्धदर्शन के ही किसी न किसी वाद को मुख्य बनाया है। जैसे—शब्द नय के अन्तर्गत आठवें और नौवें आरे आते हैं जिसमें आठवें आरे के अन्तर्गत दिङ्नाग (बौद्ध विद्वान्) के किसी विशिष्ट मत को समाहित किया है और नौवें आरे में अवक्तव्यत्व नाम का ही कोई बौद्ध मत प्रतिपादित किया है। इसी प्रकार समभिरूढ़ नय अर्थात् दसवें आरे में भी कोई बौद्धमत ही लिया है। एवम्भूत नय के अन्तर्गत ग्यारहवें आरे में बौद्धों के ही क्षणिकवाद तथा बारहवें अरे के अन्तर्गत बौद्धों के ही शून्यवाद की स्थापना की है। इस प्रकार नयों के विवेचन में जैनेतर दर्शनों का समावेश करते समय बौद्ध मत के भेद प्रभेदों का विवरण इतने विस्तार से देने वाले मल्लवादी अकेले जैन नैयायिक हैं।

पर्यायार्थिक नय के अन्तर्गत आने वाले सभी ऋजुसूत्र नय, शब्द नय, समभिरूढ़ नय तथा एवंभूत नय को बौद्ध दर्शन के ही किसी न किसी वाद से विशेष रूप से तुलना करने के पीछे कारण मल्लवादी पर आचार्य सिद्धसेन का प्रभाव समझ में आता है। आचार्य सिद्धसेन ने पर्यायास्तिक नय की तुलना बौद्धदर्शन से की है।[20] इसी कारण मल्लवादी ने भी पर्यायास्तिक नय के अन्तर्गत बौद्धदर्शन की गहराई में जाकर उन्हीं के मत मतान्तरों को नयों में समावेशित करने का प्रयास किया है जो कि मल्लवादी की मौलिक देन है।

शब्द, समभिरूढ़ तथा एवंभूत नय की तुलना व्याकरण दर्शन से करने की

परंपरा परवर्ती आचार्यों ने विकसित की। मल्लवादी आचार्य सिद्धसेन से प्रभावित होते हुए भी नैगम नय को पांचवें और छठे आरे में गर्भित करते हैं जबकि सिद्धसेन ने नैगम नय को छोड़कर मात्र षड्नय ही स्वीकृत किये है। आगमिक परंपरा से प्राप्त नैगम नय को पुनः स्थापित करने का भी श्रेय इस दृष्टि से मल्लवादी को जाता है। यहां एक बात और भी विचारणीय है कि मल्लवादी ने व्यवहार नय को प्रथम लिया और नैगम नय को संग्रह के बाद तीसरे स्थान पर रखा।

इस लघु विमर्श के बाद हम यह कह सकते हैं कि मल्लवादी जैनदर्शन के क्षेत्र में एक ऐसे दार्शनिक हुए हैं जिन्होंने नयों के क्षेत्र में अद्वितीय योगदान दिया और परवर्ती किन्हीं आचार्यो ने उनकी इस विधि को नहीं अपनाया।

सन्दर्भ

1. (क) द्वादशार नयचक्रम्, तृतीयोविभागः, संपादक-मुनिजम्बूविजयस्य प्राक्कथनम्, पृष्ठसंख्या-7 प्रकाशक-जैन आत्मानन्द सभा, भावनगर, प्रथमावृत्ति-1988
   (ख) आगमयुग का जैन दर्शन, परिशिष्ट-2 आचार्य मल्लवादी का नयचक्र-दलसुख भाई मालवणिया, पृ. 297
2. तुलनीय, आगमयुग का जैनदर्शन, दलसुख मालवणिया, पृ. 307-308
3. तयोर्भगा-(1) विधिः, (2) विधिविधिः, (3) विधेर्विध-नियमः, (4) विधेर्नियमः, (5) विधि-नियमम्, (6) विधि-नियमस्य विधिः, (7) विधि-नियमस्य विधिनियमस्, (8) विधिनियमस्यनियमः, (9) नियमः, (10) नियमस्य विधिः, (11) नियमस्य विधिनियमम्, (12) नियमस्य नियमः। *–द्वादशार नयचक्रम् प्रथमोविभागः, प्रथमेविध्यरे, पृ. 10 संपादक-मुनि जम्बूविजयः, प्रकाशक*–जैन आत्मानंदसभा, भावनगर, प्रथमावृत्ति 1966
4. विध्यादयः षड्नया द्रव्यार्थिकस्य भेदाः, उभयोभयादयश्च षड्नयाः पर्यायार्थिकस्य भेदाः। एवं नैगमादिष्वपि नयेषु यथा विध्यादयो नया अन्तर्भवन्ति तथा तत्तद्विध्यादिनयनिरूपणान्ते विस्तरेण वर्णितं मल्लवादिसूरिभिः। दिनां व त्ववोपदशयति-प्रथमस्य विधिनयस्य व्यवहारनये, द्वितीयचतुर्थाना संग्रह-नये, पंचमषष्ठयोर्नैगमे, सप्तमस्य ऋजुसूत्रनये, अष्टमनवमपोः शब्दनये, दशमस्य समभिरूढ़े, एकादशद्वादशेयोस्तु एवम्भूतनयेऽन्तर्भावः।
5. *–वही, प्राक्कथनम्-मुनिजम्बुविजयः, पृ. 18 विध्यादिनयनिरूपणव्याजेन* तत्तन्नयानुसारिणस्तत्कालीनाः सर्वे पि दार्शनिकविचारा मल्लवादिसूरिभिरत्रोपन्यस्ताः। –द्वादशारनयचक्र भाग-1, प्राक्कथनम्, पृ. 18

6. यथा च रथादिचक्रे राणा परस्परतो न्तरमेवमत्रापि आदौ परपंक्ष निरस्यानन्तर स्वपक्षस्थापनाय विध्यादिनयानां प्रवृत्तत्वात् परपक्षनिरसनात्मको यों शस्तट् द्वादशानामराणां परस्परतोऽन्तरमू। . ... तत्र सर्वेषामप्यराणामाधारभूतस्तुम्बापरपयांयो नाभिरूपथा तदसम्बद्वानां तेषां विशरणात् स्वकार्यकरणासामर्थ्याच्चैवमत्रापि वर्तते सर्वेषामपि विध्यादिद्वादशनयाराणामाधारभूतः स्याद्वादनाभिः, तत्पतिबदसर्वनयावस्थीनादतोऽन्यथा विशरणात्। ...चक्राकाररूपेप सर्वेषां नयामामत्र निवेशितत्वाद द्वादशस्याप्यरस्य मतं पुनः प्रथमा-दिनयेन निषिध्यते। एवं चानवरतभिदं नयचक्रं क्रमते। वही, पृ. 18-19

7. अत एतच्छैल्यनुसारेण "यथालोकग्राहमेव वस्तु" इति मन्यमानो लौकिको विधिनय इतयाज्ञानिकवादं बहु मन्यते यं लौकिको विधिनयः।... अतो विधिनय निरूपणद्वारेण मीमांसकमतमस्मिन् नय उपन्यस्तम्।

—द्वादशारनय चक्र, भाग-1 प्रक्कथनम्, पृ. 26

8. इदं तु ध्येयम्-एतत्सिद्धान्तावलम्बिनः सर्वेऽप्यद्वैतवादा अस्मिन् नयेऽन्तर्भवन्ति। .... "पुरुष एवेदं सर्वम्" इत्यादिर्वेदोपनिषत्सु प्रतिपादितः पुरूषद्वैतवाद आदौ निरूपितः। ततः पुरुषाद्वैतवादं निरस्य नियत्यद्वैतवादः प्रतिपादितः। —वही, पृ. 27

9. प्रकृतिपुरूष रूपेण द्वैतवादिनः सांख्याः "ईश्वरोऽधिष्ठाता, तदधिष्ठितं चेदं सर्व जगत प्रवत्ति "इति ईश्वरेशितद्वयात्मकत्वेन द्वैतमभ्युपगच्छन्त ईश्वरवादि-नश्चास्मिन् नये अन्तर्भवन्ति।

—वही, पृ. 27

10. चेतनाचेतनात्मकस्य सर्वस्य परिवृत्या अन्योन्यात्मकत्वानुभवनात् कर्मसम्बद-पुरुषाणां कर्मकृत्वात् कर्मणां च पुरूषकृतत्वादात्मनैवात्मनः कार्यकारणत्वाद् एकं सर्व चैकम्" इति हि विधिनियमनयदर्शनम्, विधेर्नियम्यत्वाद्। अस्मिंश्च नये द्रवयमेव शब्दार्थो नित्यः सर्वात्मकः। ॐ परमार्थः। —वही, पृ. 27

11. पंचमेऽरे उभयनयमतं वैयाकरणसिद्धान्तं मनसिकृत्य निरूपितं ग्रन्थकृता। अयं नयो नैगमदेशः।

—द्वादशारनयचक-भाग-2 प्रास्ताविकं, पृ. 11

12. षष्ठेऽरे उभयनयमतं निराकृत्य विधि-नियमयौः सामान्य—विशेषयोः विधिः वैशेषिकमतानुसारेण वर्णितः। अयं नयो नैगमैकदेशः। —वही, पृ. 11

13. इमे षड्द्रव्यास्तिकनयाः। अतः परं षण्णां पर्यवास्तिकनयानां प्रारम्भः। —वही, पृ. 11

14. बौद्धमतानुसारेण अपोहः शब्दार्थो वर्णितः। ऋजुसूत्रदेशौ यं नयः। —वही, पृ. 12

15. अष्टमेऽरे मल्लवादिसूरिभिः बौद्धाचार्यदिङ्नागस्य मतं विस्तरेण चर्चितम्।

—द्वादशारनयचक्र, भाग-3, प्रास्ताविकं, पृ. 12

16. *नवमे नियमनयारे सामान्य-विशेषादिभिर्विविधैः प्रकारैः वस्तुनो वक्तव्यत्वं शब्दनयमवलम्ब्य साधितम्। नयो यं शब्दनयैकदेशः। —द्वादशारनयचक्र, भाग-3, प्राक्कथनम्, पृ. 8*

17. दशमे नियमविध्याख्येऽरे एकान्तेन अवक्तव्यपक्षेऽपि दोषानुद्भाव्य-अवयवावय-

विधर्मधर्म्यादि-भेदांश्च निरस्य भावरूपो-विशेषरूप एव पदार्थ इति साधितम्। ..... कस्माद्ग्रन्थविशेषादुद्रतमिति न ज्ञायते तथापि स बौद्धग्रन्थो भवेदिति सम्भाव्यते। –वही, पृ. 9

18. एकादशे नियमोभयाख्यतेऽरे "सर्वोऽपि पदार्थाःक्षणिकाः" इति साधितम्। एवंभूत-नयस्यभेदरूपे उपयोगैवंभूतनये चाऽयं नियमोभयनयोऽन्तर्भवति। –वही, पृ. 9

19. द्वादर्श नियमनियमाख्येऽरे क्षणिकपदार्थवादमपिनिरस्य शून्यवाद· प्रसादितः। –वही, पृ. 9

20. सुद्धोअणतणअस्स उ परिसुद्धो पज्जवविअप्पो।। –सन्मति प्रकरण-3/48

अध्यक्ष, जैन दर्शन विभाग
श्री लाल बहादुर शास्त्री राष्ट्रीय संस्कृत
विद्यापीठ (मानित विश्वविद्यालय)
नई दिल्ली-110016

बन्धुर्नंनः स भगवान् रिपवोऽपिनान्ये,
साक्षान्न दृष्टचर एकतमोऽपि चैषाम्।
श्रुत्वा वचः सुचरितं च प्रथग् विशेषं,
वीरं गुणातिशयलोलतया श्रिताः स्मः।।

'भगवान् महावीर हमारे कोई सगे भाई नहीं और न दूसरे कपिल गोतमबुद्धादिक ऋषि हमारे कोई शत्रु ही हैं—हमने तो इनमें से किसी एक को साक्षात् देखा तक नहीं है। हाँ, इनके पृथक्-पृथक् वचनविशेष तथा चरित विशेष को जो सुना है तो उससे महावीर में गुणातिशय पाया गया है और उस गुणातिशय पर मुग्ध होकर अथवा उसकी प्राप्ति की उत्कट इच्छा से ही हमने महावीर का आश्रय लिया है।'

विविध श्रावकाचारों में वर्णित गुरु का स्वरूप, वन्दन एवं उपासनाविधि

—डॉ. जयकुमार जैन

गुरु का स्वरूप :- गुरु शब्द का वाच्यार्थ है महान्। जो स्वयं मोक्षमार्ग का पथिक है तथा अन्य लोगों को अपने सदुपदेश द्वारा मोक्षमार्ग पर आरूढ़ करता है, वह गुरु कहलाता है। आचार्य वादीभसिंह ने क्षत्रचूडामणि में गुरु का वर्णन करते हुए कहा है—

'रत्नत्रयविशुद्धः सन् पात्रस्नेही परार्थकृत्।
परिपालितधर्मो हि भवाब्धेस्तारको गुरुः।।' [1]

अर्थात् सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र से विशुद्ध, सज्जन, सुपात्र शिष्य से स्नेह करने वाला, परोपकारी, धर्म का परिपालन करने वाला गुरु संसार रूपी समुद्र से पार कराने वाला होता है। उन्होंने गुरु के स्नेह को कामनाओं को पूरा करने वाला तथा गर्भाधान मात्र से न्यून माता-पिता कहकर गुरु की महत्ता का प्रतिपादन किया है।[2]

भगवती आराधना की विजयोदया टीका में **'सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रैर्गुरुतया गुरवः इत्युच्यन्ते आचार्योपाध्यायसाधवः**[3] कहकर सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र से महान् आचार्य, उपाध्याय और साधु इन तीन परमेष्ठियों को गुरु माना गया है। रत्नकरण्डक श्रावकाचार में श्री समन्तभद्राचार्य ने पाँचों इन्द्रियों के विषयों की आशा से रहित, कृषि, पशुपालन आदि आरंभ से रहित, धन-धान्यादि परिग्रह से रहित, ज्ञान-ध्यान एवं तप किंवा ज्ञानतप और ध्यान तप में लवलीन तपस्वी निर्ग्रन्थ गुरु को प्रशंसनीय कहा है।[4] लाटी संहिता में देव को सच्चा गुरु बताते हुए उनसे नीचे भी जो अल्पज्ञ हैं, किन्तु उसी रूप में दिगम्बरत्व, वीतरागत्व और हितोपदेशित्व को धारण करने वाले को गुरु

कहा गया है–

तेभ्योऽर्वागपि छद्मस्थरूपा तद्रूपधारिणः।
गुरवः स्युगुरोर्न्यायात् न्यायोऽवस्थाविशेषभाक्।।[5]

उमास्वामी श्रावकाचार में गुरु का कथन करते हुए कहा गया है–

महाव्रतान्वितास्तत्त्वज्ञानाधिष्ठितमानसाः।
धर्मोपदेशकाः पाणिपात्रास्ते गुरवो मताः।।
पञ्चाचारविचारज्ञाः शान्ताः जितपरीषहाः।
त एव गुरवो ग्रन्थैर्मुक्ता बाह्यैरिवान्तरैः।।[6]

अर्थात् जो महाव्रतों से संयुक्त हैं, जिनका मन तत्त्वज्ञान के विचार में संलग्न है, जो धर्म के उपदेशक हैं और पाणिपात्र में आहार करते हैं, वे ही गुरु माने गये हैं। जो दर्शनाचार आदि पञ्चविध आचारों के विचारज्ञ हैं, जिनकी कषायें शान्त हैं, जो शीत-उष्ण आदि परीषहों के विजेता हैं और जो बाह्य परिग्रह के समान अन्तरंग परिग्रहों से भी रहित हैं, वे ही सच्चे गुरु हैं। इन दोनों श्लोकों को उद्धृत करते हुए आचार्य पद्मनन्दि ने गुरु का यही स्वरूप स्वीकार किया है।[7] श्री शिवकोटि ने कहा है–

दिगम्बरो निरारम्भो नित्यानन्दपदार्थनः।
धर्मदिक् कर्मधिक् साधुर्गुरुरित्युच्यते बुधैः।।[8]

अर्थात् जो सर्व परिग्रह से रहित दिगम्बर हैं, सर्व प्रकार के आरंभों से रहित हैं, नित्यानन्द स्वरूप मोक्ष के अभिलाषी हैं, धर्म के उपदेष्टा हैं और कर्मो के विनाशक हैं, ऐसे साधु को विद्वानों ने गुरु कहा है। पण्डित गोविन्द ने गुरु का विस्तार से कथन किया है। उनके अनुसार जो क्रोधरहित है, मदरहित है, लोभरहित है, जितेन्द्रिय है, समस्त प्रयोजनभूत तत्त्वों को जानने वाला है, परमार्थस्वरूप मोक्षमार्ग में अवस्थित है, जो परम दुर्धर ब्रह्मचर्य को मन-वचन-काय की शुद्धि से धारण करता है, परीषहों को सहन करता है, भयंकर उपसर्ग आने पर भी धीर-वीर रहता है, सर्वपरिग्रह से विनिर्मुक्त है, सर्व जन्तुओं की दया करने में तत्पर है, जो सर्वथा बिना दी हुई वस्तु को ग्रहण नही करता है, जो

अपने शरीर में भी ममता से रहित है, जो इस लोक और परलोक के फल की आकांक्षा के बिना ही जीवों को धर्म का उपदेश देता है, जो प्रासुक शुद्ध आहार को पाणिपात्र में ग्रहण करता है, इन्द्रियों को वश में रखता है, जो दिगम्बर है, आशाओं से विमुक्त है, सुख और दुःख में समान है, जीवन-मरण, लाभ-अलाभ और उच्च-नीच में समभावी है, स्व-पर का तारक है, वही सच्चा गुरु है और वही सदा सम्यग्दृष्टियों द्वारा मान्य है। इसके विपरीत स्व-पर का प्रवंचक सच्चा गुरु नही है।[9]

आचार्य अमितगति ने ज्ञानी एवं आचारवान् गुरुओं के वचनों की ग्राह्यता का वर्णन करते हुए लिखा है–

ये ज्ञानिनश्चारुचारित्रभाजो ग्राह्या गुरूणां वचनेन तेषाम्।
सन्देहमत्यस्य बुधेन धर्मो विकल्पनीयं वचनं परेषाम्।।[10]

अर्थात् जो ज्ञानवान् और उत्तम चारित्र के धारी हैं, उन गुरुओं के वचन सन्देहरहित होने से ग्राह्य हैं। जो ज्ञानवान् और उत्तम चारित्रधारी नही हैं, उनके वचन सन्देहास्पद होने से स्वीकार करने योग्य नही हैं।

क्या श्रावक भी गुरु कहा जा सकता है? – आचार्य, उपाध्याय और साधु परमेष्ठियों से नीचे किसी की भी गुरु संज्ञा नही है। कोई भी श्रावक इस संज्ञा को प्राप्त नही है। ग्यारह प्रतिमाधारी क्षुल्लक और ऐलक भी श्रावक की श्रेणी में ही है, वे गुरु नही है। किन्तु लोकव्यवहार में उपदेशक साधुभिन्न श्रावक को भी गुरु कह दिया जाता है। हरिवंशपुराण में जिनधर्मोपदेशक होने से देवों ने चारुदत्त श्रावक को गुरु कहा है तथा उसे मुनि से भी पहले नमस्कार किया है। इस सन्दर्भ में एक कथा आई है–एक समय रत्नद्वीप में चारण ऋद्धिधारी मुनिराज के पास चारुदत्त श्रावक और दो विद्याधर बैठे हुए थे। उसी समय दो देव स्वर्गलोक से आये और उन्होंने मुनि को छोड़कर पहले चारुदत्त श्रावक को नमस्कार किया। वहाँ बैठे हुए दोनों विद्याधरों ने आगत देवों से नमस्कार के इस व्युत्क्रम का कारण पूछा। इसके उत्तर में देवों ने कहा कि चारुदत्त ने हम दोनों को बकरा की योनि में जिनधर्म का उपदेश दिया था, जिसके

फलस्वरूप हमारा कल्याण हुआ है। अतएव ये चारुदत्त हम दोनों के साक्षात् गुरु हैं—

अक्रमस्य तदा हेतुं खेचरौ पर्यपृच्छताम्।
देवावृषिमतिक्रम्य प्राग्नतौ श्रावकं कुतः।।
त्रिदशावूचतुर्हेतुं जिनधर्मोपदेशकः।
चारुदत्तो गुरुः साक्षादावयोरिति बुध्यताम्।।
तत्कथं कथमित्युक्ते छागपूर्वः सुरोऽभणीत।
श्रूयतां मे कथा तावत् कथ्यते खेचरो स्फुटम्।।[11]

इसी प्रकार आदिपुराण में प्रीतिंकर मुनिराज की वन्दना करते हुए कहा गया है कि ये मुनिराज महाबल के भव में भी मेरे स्वयंबुद्ध मंत्री के रूप में गुरु थे। इस भव में सम्यग्दर्शन प्रदान कर विशेष रूप से गुरु हो गये हैं—

महाबलभवेऽप्यासीत् स्वयंबुद्धो गुरुः स नः।
वितीर्य दर्शनं सम्यगधुना तु विशेषतः।।[12]

आचार्य :- निर्ग्रन्थ दिगम्बर साधु बनने के इच्छुक लोगों को परीक्षाणोपरान्त दीक्षा देने वाला, उनके दोषों का निवारण करने वाला संघनायक साधु आचार्य कहलाता है। उमास्वामिश्रावकाचार में आचार्य का स्वरूप वर्णित करते हुए कहा गया है कि जो शिष्यों का अनुग्रह करने वाला हो, पाप रूप इन्धन को जलाने के लिए अग्नितुल्य हो, पाँचों इन्द्रियों के भोगों से विरक्त हो, विश्ववन्दित हो, प्रमाद और मद से विमुक्त हो, जिन आज्ञा का प्रतिपालक हो, शास्त्रों के पढ़ाने में सदा निरत रहता हो और स्वयं भी शास्त्र पठन में पटु हो, धर्मोपदेश रूप अमृत से लोगों के मनोमल को धो देने वाला हो, सम्यक्त्व रूप से अलंकृत हो, सम्यग्ज्ञान रूप उत्तम भोजन करने वाला हो, जिसका शरीर सम्यक्चारित्र रूप उत्तम वस्त्र से वेष्टित हो, विशुद्ध बुद्धि हो, महान् उपशमभाव रूप गजराज पर समारूढ़ हो, उत्तम अभिप्राय वाला हो, सर्व जीवों का हितैषी और सर्व प्राणियों का कल्याणकर्ता हो, पाप, मिथ्यात्व और दुष्कर्मों को दूर करने वाला हो, संसार से पार उतारने वाला हो, बाहरी और भीतरी

परिग्रह से विमुक्त हो, जैनधर्म की प्रभावना करने वाला हो, गण का स्वामी हो, सर्वगण का आधार हो और जैन धर्म के मूल मार्ग का प्रदर्शक हो, अनेक उत्तम गुणरूपी रत्नों का सागर हो, संसार सागर में पड़े हुए भव्य जीवों को सहारा देने वाला हो, वह आचार्य परमेष्ठी कहलाता है।

अमितगतिश्रावकाचार में आचार्य परमेष्ठी की वन्दना करते हुए आचार्य के स्वरूप का भी कथन किया गया है–

ये चारयन्ते चरितं विचित्रं स्वयं चरन्तो जनमर्चनीयाः।
आचार्यवर्या विचरन्तु ते मे प्रमोदमाने हृदयारविन्दे।।[14]

अर्थात् जो नाना प्रकार के चारित्र का स्वयं आचरण करते हुए लोगों को आचरण कराते हैं, ऐसे अर्चनीय आचार्यवर्य मेरे प्रमुदित हृदयकमल में सदा विचरण करें। आगे पुनः आचार्य परमेष्ठी का वर्णन करते हुए कहा है कि जो पाँच प्रकार के आचार का स्वयं आचरण करते हैं, दूसरों को आचरण कराते हैं और आचरण करने वालों को अनुमति देते हैं, जो पिता के तुल्य सब जीवों के हितकारी हैं, जैसे चन्द्रमा की किरणों का स्पर्श करके चन्द्रकान्तमणि जल को छोड़ता है, उसी प्रकार जिनके चरणों का स्पर्श करके जीव अपने पापों को छोड़ देते हैं, जिनके उपदेशों से साधुजन अपने चारित्र को अत्यन्त दृढ़ करते हैं, वे आचार्य परमेष्ठी श्रेष्ठपद को पाने के इच्छुक भव्य पुरुषों के द्वारा मन-वचन-काय से पूजे जाते हैं।[15]

उपाध्याय :- उपाध्याय परमेष्ठी का मुख्य कार्य अध्ययन-अध्यापन है।[16] इनमें आचार्य के सभी गुण पाये जाते हैं, यह आचार्य के समान धर्मोपदेश तो दे सकते हैं, परन्तु इनमें आदेश देने की पात्रता नही है। उपाध्याय परमेष्ठी की वन्दना करते हुए अमितगति श्रावकाचार में कहा गया है–

येषां तपःश्रीरनघा शरीरे विवेचिका चेतसि तत्त्वबुद्धिः।
सरस्वती तिष्ठति वक्त्रपद्मे पुनन्तु तेऽध्यापकपुङ्गवा वः।।[17]

अर्थात् जिनके शरीर में पापरहित निर्मल तपोलक्ष्मी सुशोभित है, जिनके चित्त में भेदविज्ञान कराने वाली विवेचक तत्त्वबुद्धि विद्यमान है और जिनके

मुखकमल में सरस्वती विराजमान है; ऐसे उपाध्याय परमेष्ठी हमें और आपको पवित्र करें। आगे पुनः उपाध्याय परमेष्ठी का वर्णन करते हुए कहा गया है कि जैसे उन्नत पर्वतों से पावन नदियाँ निकलती हैं, उसी प्रकार जिन विद्योन्नत सत्त्वशाली उपाध्यायों से पापों का दलन करने वाली पवित्र विद्यायें उत्पन्न होती हैं, जो संसार-कानन को जलाने के लिए दावानल के समान पञ्च आचारों का स्वयं पालन करते हैं, जो द्वादशांग रूप श्रुतस्कन्ध को स्वयं पढ़ते हैं और अन्य शिष्यों को पढ़ाते हैं, जिनके वचन रूप सरोवर में स्नान करने वाले मलिन पुरुष भी मलिन नही रहते, प्रत्युत निर्मल हो जाते हैं, ऐसे पापरहित उपाध्याय परमेष्ठी चतुर पुरुषों के द्वारा अवश्य ही पूजे जाते हैं।[18]

साधु :- श्रमण, संयत, ऋषि, मुनि, साधु, वीतरागी, अनगार, भदन्त और दान्त ये सब पर्यायवाची शब्द हैं।[19] रत्नकरण्डश्रावकाचार में विषयों की आशा से रहित, निरारंभ, अपरिग्रही तथा ज्ञान, ध्यान और तप (किंवा ज्ञानतप और ध्यानतप) में लीन को तपस्वी या साधु कहा गया है। तत्त्वार्थसार में व्यवहारालंवी साधु का स्वरूप बताते हुए कहा गया है कि जो सात तत्त्वों का भेदपूर्वक श्रद्धान करता है, भेदरूप से जानता है तथा विकल्पात्मक भेद रूप रत्नत्रय की साधना करता है, वह व्यवहारी साधु है।[20] अमितगतिश्रावकाचार में साधु परमेष्ठी की वन्दना करते हुए कहा है—

कषायसेनां प्रतिबन्धिनीं ये निहत्य धीराः शमशीलशस्त्रैः।
सिद्धिं विबाधां लघु साधयन्ते ते साधवो मे वितरन्तु सिद्धिम्।।[21]

अर्थात् जो धीर वीर सिद्धि को रोकने वाली क्रोध आदि कषाय रूपी सेना को शम और शील रूप शस्त्रों के द्वारा विनष्ट कर बाधा रहित सिद्धि को अल्पकाल में शीघ्र ही सिद्ध कर लेते हैं, वे साधुजन मुझे सिद्धि प्रदान करें। आगे पुनः कहा गया है कि जिन्होंने तीनों लोकों को सन्तापित करने वाली तीव्र कामाग्नि को पापपंक के प्रक्षालक शमभाव रूपी जल से बुझा दिया है, जो भवकानन को जलाने की इच्छा से निर्दोष तप को करते हैं, जिन्होंने सर्व प्रकार के परिग्रह को दूर कर दिया है, जो अपने शरीर के प्रति भी निष्पृह हैं, जो खजाने की तरह रत्नत्रय की अत्यन्त आदरपूर्वक रक्षा करते हैं, ऐसे

भव्यबन्धु साधुजन सज्जनों के द्वारा निरन्तर आराधना किये जाते हैं।[22]

साधु के भेद :- श्री चामुण्डरायकृत चारित्रसार में जिनरूप को धारण करने वाले दिगम्बर साधुओं के चार भेद कहे गये हैं–अनगार, यति, मुनि और ऋषि। सामान्य साधुओं को अनगार कहते हैं। उपशम श्रेणी और क्षपक श्रेणी पर आरूढ और कर्मो की उपशमना और क्षपणा करने में उद्यत साधु को यति कहते हैं। अवधिज्ञानी, मनःपर्ययज्ञानी और केवलज्ञानी साधु को मुनि कहा जाता है तथा ऋद्धिप्राप्त साधु ऋषि कहलाते हैं। ऋषि चार प्रकार के होते हैं–राजर्षि, ब्रह्मर्षि, देवर्षि और परमर्षि। विक्रिया और अक्षीण ऋद्धि से युक्त साधु ब्रह्मर्षि कहे जाते हैं। आकाशगगन ऋद्धि वाले साधु देवर्षि और केवलज्ञानी साधु परमर्षि कहलाते हैं।[23] श्री पण्डित मेधावीकृत धर्मसंग्रहश्रावकाचार में अनगार के स्थान पर साधु का प्रयोग किया गया है।[24] शेष वर्णन चारित्रसार के ही समान है।

मिथ्यादृष्टि सदोष साधु :- रत्नकरण्डश्रावकाचार में मिथ्यादृष्टि मोही साधु की अपेक्षा निर्मोही सम्यग्दृष्टि मोक्षमार्गी गृहस्थ को अच्छा बताया गया है।[25]

लाटीसंहिता में सम्यग्दर्शन से गिरकर मिथ्यादृष्टि बने ग्यारह अंग के पाठी साधुओं का वर्णन करते हुए कहा गया है कि यद्यपि उन्हें शुद्धात्मा का अनुभव नहीं होता है, तथापि उनसे जिनागम का उपदेश सुनकर अनेक जीव सम्यग्दृष्टि और सम्यग्ज्ञानी बन जाते हैं।[26] ऐसे साधुओं को आचार्य वादीभसिंह ने 'उपजातरुजोऽप्येष धार्मिकाणां भिषक्तमः' अर्थात् स्वयं रोगी होने पर भी अन्य धार्मिकों के लिए श्रेष्ठ चिकित्सक कहा है।[27]

गृहस्थ की भावसाधुता का निषेध :- आचार्य शुभचन्द्र का कथन है कि आकाशपुष्प अथवा खरविषाण कदाचित् संभव हो जायें, परन्तु गृहस्थ को किसी भी देशकाल में कभी भी ध्यानसिद्धि (भावसाधुपना) नही हो सकता है। यथा'–

> **खपुष्पमथवा श्रृङ्ग खरस्यापि प्रतीयते।**
> **न पुनर्देशकालेऽपि ध्यानसिद्धि गृहाश्रमे।।**[28]

इससे स्पष्ट है कि मुनियों को ही आत्मध्यान हो सकता है।

चार मंगलों में आचार्य एवं उपाध्याय क्यों नहीं? :- पञ्च परमेष्ठियों में आचार्य, उपाध्याय और साधु की पृथक्-पृथक् वन्दना की गई है, किन्तु चार मंगलों में अरिहन्त, सिद्ध, साधु और केवलिप्रणीत धर्म का कथन किया गया है। यहाँ एक जिज्ञासा होती है कि मंगलों में आचार्य एवं उपाध्याय का पृथक् ग्रहण क्यों नही है। सामान्यतः यह कहा जाता है कि साधु में ही तीनों का ग्रहण हो जाने से आचार्य, उपाध्याय का पृथक् समावेश नही है। यह सत्य है कि साधु में आचार्य, उपाध्याय और साधु तीनों आ जाते हैं। पर इसमें एक और रहस्य प्रतीत होता है। आचार्य एवं उपाध्याय पद या उपाधि हैं। इन पदों या उपाधियों के रहते हुए दूसरों का कल्याण या मंगल भले ही हो जावे परन्तु स्वयं का मंगल संभव नही है। इसी कारण सल्लेखना काल में पदत्याग का विधान है। कदाचित् चार मंगलों में स्वमंगल रूप न होने से ही आचार्य एवं उपाध्याय का ग्रहण नही किया गया है।

गुरुवन्दन :- गुण पूजास्थान माने गये हैं। इसी कारण गुणाधिक की वन्दना का नियम है। साधुओं में परस्पर ज्येष्ठता दीक्षाकाल के आधार पर मानी गई है। वन्दना में विनय की अनिवार्यता होती है किन्तु यह विनय भी मोक्षहेतुक होना चाहिए। लोकानुवृत्तिहेतुक, कामहेतुक, अर्थहेतुक या भयहेतुक विनय आश्रयणीय नही है। वसुनन्दिश्रावकाचार में दर्शनविनय, ज्ञानविनय, चारित्रविनय, तपविनय और उपचारविनय को श्रावक के लिए आवश्यक माना गया है। पञ्चमगति या मोक्षप्राप्ति के लिए पञ्चविध विनय अनिवार्य है। निःशंकित, संवेग आदि के परिपालन को दर्शनविनय कहते हैं। ज्ञान, ज्ञान के उपकरण शास्त्रादि तथा ज्ञानियों के प्रति भक्तिपूर्वक तदनुकूल आचरण का नाम ज्ञानविनय है। चारित्र और चारित्रधारियों की विनय को चारित्रविनय कहते हैं। बालक, वृद्ध आदि के विचार को छोड़कर तपस्वियों की वन्दना तपविनय है। उपचारविनय मन-वचन-काय के भेद से त्रिविध है। मन को खोटे परिणामों से हटाकर शुभ में लगाना मानसिक विनय कही गई है।[29] पण्डित मेधावी ने धर्मसंग्रह श्रावकाचार में मुनियों की चरणवन्दना को नित्य पूजन का ही एक

भेद स्वीकार किया है–

देवार्चनं गृहे स्वस्य त्रिसंध्यं देववन्दनम्।
मुनिपादार्चनं दाने सापि नित्यार्चना मता।।[30]

ब्रह्म नेमिदत्त द्वारा रचित धर्मोपदेश पीयूष वर्ष श्रावकाचार में अतिथिसंविभाग शिक्षाव्रत के अन्तर्गत सुपात्र को दान का विधान करते हुए मुनियों को उत्तम सुपात्र कहकर उन्हें दान देने का विधान नवधा भक्ति पूर्वक किया गया है। नवधा भक्ति में प्रतिग्रह, उच्चस्थान, पादप्रक्षालन, पूजन, नमस्कार, मनःशुद्धि, वचनशुद्धि, कायशुद्धि एवं भोज्यशुद्धि का कथन किया गया है।[31] पं. दौलतराम ने क्रियाकोष के मंगलाचरण में गुरुवन्दना की है–

'आचारिज उपाध्याय कौं विनऊं साधुमहन्त।।'
'तीन काल के मुनिवरा वंदों लोक प्रसिद्ध।।'[32]

वन्दना के बत्तीस दोष – आ. अमितगति ने वन्दना के 32 दोष कहे हैं–

1. अनादर – आदर रहित होकर वन्दना करना।
2. स्तब्ध – अष्टविध मदों में से किसी मदपूर्वक वन्दना करना।
3. पीडित – अंगों को दबाकर वन्दना करना।
4. कुंचित – केश मरोड़कर वन्दना करना।
5. दोलादित – शरीर को झूलते हुए के समान वन्दना करना।
6. कच्छपरिंगित – कछुए के समान संकोच-विस्तार पूर्वक वन्दना करना।
7. अंकुशित – अंगूठे को मस्तक पर रखकर वन्दना करना।
8. मत्स्योद्वर्तन – मछली की तरह उछलकर वन्दन करना।
9. द्राविडीविज्ञाटित – वक्ष पर दोनों हाथ करके वन्दना करना।
10. आसादना – अवज्ञापूर्वक वन्दना करना।
11. विभीत – गुरु आदि के भय से वन्दना करना।

12. भय — सात भयों से डरते हुए वन्दना करना।
13. ऋद्धिगौरव — परिवार की ऋद्धि के गर्व से वन्दना करना।
14. लज्जित — लज्जाकुलित हो वन्दना करना।
15. प्रतिकूल — गुरु के प्रतिकूल हो वन्दना करना।
16. शब्द — वचनालाप करते हुए वन्दना करना।
17. प्रदुष्ट — क्रोधित होकर क्षमा न माँगकर वन्दना करना।
18. मनोदुष्ट — बताकर, तर्जनी घुमाते हुए वन्दना करना।
19. हसनोद्घट्टन — हँसते हुए अंग रगड़ते हुए वन्दना करना।
20. भृकुटिकुटिल — भौहें टेढ़ी करके वन्दना करना।
21. प्रविष्ट — अत्यन्त निकट जाकर वन्दना करना।
22. दृष्ट — देखने पर ठीक ढंग से न देखने पर यद्वा तद्वा वंदना करना।
23. करमोचन — संघ में कर (Tax) मानकर वन्दना करना।
24. आलब्ध — उपकरण पाकर वन्दना करना।
25. हीन — अधूरी वन्दना करना।
26. पिधायक — सूत्र कथित अर्थ को ढककर वन्दना करना।
27. अदृष्ट — गुरु की दृष्टि वचाकर वन्दना करना।
28. अनालब्ध — उपकरण आदि पाने की इच्छा से वन्दना करना।
29. मूक — गूंगे के समान हुंकार करते हुए वन्दना करना।
30. दर्दुर — दूसरे की वन्दना को अपने शब्द से ढकते हुए वन्दना करना।
31. अग्र — गुरु के ठीक आगे खड़े होकर वन्दना करना।
32. उत्तरचूलिक — जल्दी-जल्दी या क्रमभंग से वन्दना करना।[33]

वन्दना करने वालों को उक्त बत्तीस दोष छोड़ना चाहिए। क्योंकि प्रयत्नपूर्वक दोषरहित की गई वन्दना खेती के समान शीघ्र ही अभीष्ट फल को

देने वाली होती है।[34] साधुवेष से ही मोक्षसंभव है। अतः श्रावक को गुरुवन्दना अवश्य करना चाहिए। पं. मेधावी ने स्पष्ट रूप से कहा है–

गृहाश्रमं यः परिहृत्य कोऽपि, तं वानप्रस्थं कतिचिद्दिनानि।
प्रपाल्य भिक्षुर्जिनरूपधारी, कृत्वा तपोऽनुत्तरमेति मोक्षम्।।[35]

अर्थात् जो मोक्षाभिलाषी पुरुष गृहस्थाश्रम छोड़कर कुछ दिनों तक वानप्रस्थ आश्रम का यथाविधि पालन करके जिनराज के समान दिगम्बर मुनिमुद्रा का धारक होता है, वह नाना प्रकार के दुष्कर तप करके अन्त में मोक्ष को प्राप्त कर लेता है।

गुरु-उपासना-विधि :- पण्डित आशाधर ने सिद्धों एवं अरिहन्तों के समान दिगम्बर साधु की उपासना करने का विधान किया है। उनका कहना है कि अरिहन्त, सिद्ध, जिनधर्म और गुरु ये चारों ही लोकोत्तम एवं शरणभूत हैं। परमोत्कृष्ट होने से ये लोकोत्तम तथा दुःखनाशक एवं विघ्नविघातक होने से शरण हैं। प्रमादरहित मोक्ष के इच्छुक व्यक्तियों के द्वारा गुरुओं की सदैव उपासना की जाना चाहिए। क्योंकि जैसे गरुड़ के पंखों को ओढ़कर चलने वालों को सर्प भय नही रहता है, सर्प उनके समीप नही आ सकते हैं, उसी प्रकार गुरु की उपासना (भक्ति) करने वालों को किसी प्रकार का विघ्न नही आता है।[36] उनका कथन है कि उत्तम गृहस्थ अरिहन्तों की तरह वर्तमान काल सम्बन्धी मुनियों में चतुर्थकाल सम्बन्धी मुनियों की स्थापना करके शक्तिपूर्वक पूजन करे। क्योंकि अत्यन्त चर्चा करने वालों का कल्याण कैसे हो सकता है? इस कलिकाल में जिनशासन की भक्ति से जिनरूप को धारण करने वाले व्यक्ति भी जिनेन्द्र भगवान के समान मान्य हैं। ऐसी धर्मानुरागिणी बुद्धि से चित्त में विकार न लाकर धीर बनना चाहिए। क्योंकि भाव ही पुण्य एवं पाप का कारण है। इसलिए उसे दूषित होने से बचना चाहिए। अनशन आदि तप का कारण होने से ज्ञान पूजनीय है, उस ज्ञान की वृद्धि का कारण होने से तप पूजनीय है। ज्ञानी, तपस्वी और ज्ञानी तपस्वी पुरुष अपने-अपने गुणों के कारण पूजनीय हैं।[37]

पं. मेधावी ने धर्मसंग्रहश्रावकाचार में पं. आशाधर का ही अनुसरण करते

हुए साधुओं-आचार्य, उपाध्याय एवं साधु परमेष्ठियों की उपास्यता का कथन किया है। उन्होंने यथायोग्य पञ्चपरमेष्ठियों की उपास्यता का वर्णन करते हुए लिखा है–

भजनीया इमे सद्भिः सम्यक्त्वगुणसिद्धये।
स्नानपूजनसद्ध्यानजपस्तोत्रसदुत्सवैः।।[38]

अर्थात् इनकी अभिषेक, पूजन, ध्यान, जप, स्तुति एवं महोत्सवों के द्वारा उपासना करना चाहिए। इनकी उपासना से सज्जनों को सम्यक्त्व गुण की सिद्धि होती है।

उमास्वामिश्रावकाचार में कहा गया है कि श्रावकों को मनोवांछित कार्य की सिद्धि के लिए, इस लोक में संशय रूप अंधकार के नाश के लिए और परलोक में सुख पाने के लिए गुरुओं की उपासना करना चाहिए। संसार में जितने भी उत्तम, मध्यम और जघन्य मनुष्य हैं, वे गुरु के बिना नही रहते हैं। अतः श्रावक को गुरु की उपासना करना ही चाहिए। मनुष्य सदा ही शुभाशुभ कर्म करते रहते हैं। वे गुरु के द्वारा उपदिष्ट आचार से शुद्ध होकर महान् बन जाते हैं।[39]

श्री पद्मनन्दि मुनि ने मुनियों के सकल सम्यक्चारित्र को पापों का विध्वंशक बताकर चारित्र और चारित्रधारियों की उपासना का संकेत किया है।[40] श्री शिवकोटि ने तो स्पष्ट रूप से लिखा है कि कलिकाल में श्रेष्ठ मुनियों द्वारा वनवास छोड़ा जा रहा है, वे जिनालय में या ग्रामादिक में रहने लगे हैं, फिर भी उनकी चतुर्विध दानादिक से उपासना करना चाहिए। जिस पुरुष ने आज के वर्तमान काल में हर्षपूर्वक साधुओं की वैयावृत्ति की है, उसने ही सुख के कारणभूत जैन शासन का उद्धार किया है।[41]

पद्मनन्दिपञ्चविंशातिका में कहा गया है कि भव्य जीवों को प्रातःकाल उठकर जिन भगवान् और गुरुजनों का दर्शन करना चाहिए, भक्ति से उनकी वन्दना करना चाहिए तथा धर्म का उपदेश सुनना चाहिए। इसके बाद ही उपासक गृहस्थों को सांसारिक कार्य करना चाहिए। गुरु की कृपा से ही

ज्ञानरूपी नेत्र प्राप्त होता है। उनके द्वारा समस्त विश्व के पदार्थ हस्तरेखा के समान स्पष्ट दिखाई देते हैं। अतः ज्ञानार्थी गृहस्थ को भक्तिपूर्वक गुरुजनों की वैयावृत्ति और वन्दना करना चाहिए। जो गुरुजनों का सम्मान नही करते हैं, न उनकी उपासना करते हैं, सूर्योदय होने पर भी उनके हृदय में अज्ञानान्धकार बना ही रहता है।[42]

रयणसार में गुरुभक्ति का महत्त्व बताते हुए कहा गया है कि गुरुभक्ति से विहीन शिष्य नियम से दुर्गति के मार्ग पर चल रहे हैं। ऊसर खेत में बोये गये बीज के समान गुरुभक्ति से विहीन सर्वपरिग्रहरहित भी शिष्यों का तप आदि निष्फल समझना चाहिए। जैसे प्रधान के बिना राज्य, स्वामी के बिना देश, ग्राम, राष्ट्र एवं सेना का विनाश हो जाता है, उसी प्रकार गुरुभक्तिहीन शिष्यों के सभी अनुष्ठान विनाश को प्राप्त होते हैं।[43]

सन्दर्भ

1. क्षत्रचूडामणि, 2/30, 2. वही, 2/2 एवं 2/59, 3. भगवती आराधना 300 की विजयोदया टीका

4. विषयाशावशातीतो निरारम्भोऽपरिग्रहः।
ज्ञानध्यानतपोरक्तस्तपस्वी स प्रशस्यते।।

—रत्नकरण्डश्रावकाचार 10 एवं उसकी प्रभाचन्द्री टीका

5. लाटी संहिता, तृतीय सर्ग, 6. उमास्वामिश्रावकाचार, 14-15, 7. श्रावकाचारसारोद्धार, 140-141, 8. रत्नमाला, 8, 9. पुरुषार्थानुशासन, 3/30-35, 10. अमितगतिश्रावकाचार, 1/43, 11. हरिवंशपुराण, 21/128-131, 12. आदिपुराण, 9/172, 13. उमास्वामिश्रावकाचार, 186-192, 14. अमितगति श्रावकाचार, 1/3, 15. वही, 12/25-27

16. *'यद्धयेति स्वयं चापि शिष्यानध्यापयेत् गुरुः।*

पञ्चाध्यायी, उत्तरार्द्ध 661

17. अमितगतिश्रावकाचार, 1/4, 18. वही, 12/28-30

19. 'समणो संजदो त्ति य रिसि मुणि साधु त्ति वीदरागो त्ति।
णामाणि सुविहिदाणं अणगार भदंत दंतो त्ति।।

मूलाराधना, 888

20. तत्त्वार्थसार, 9/5, 21. अमितगतिश्रावकाचार, 1/5, 22. वही, 12/31-33, 23. चारित्रसार-

शीलसप्तकवर्णन, पद्य 22 और ऊपर का गद्य, 24. धर्मसंग्रहश्रावकाचार, 6/283-290

25. गृहस्थो मोक्षमार्गस्थो निर्मोहो नैव मोहवान्।
अनगारो गृही श्रेयान् निर्मोहो मोहिनो मुनेः।।

—रत्नकरण्डश्रावकाचार, 33

26. लाटीसंहिता, 4/18-20, 27. क्षत्रचूडामणि 2/16, 28. ज्ञानार्णव, 4/17, 29. वसुनन्दिश्रावकाचार, 320-326, 30. धर्मसंग्रहश्रावकाचार, 6/29, 31. धर्मोपदेशपीयूषवर्षश्रावकाचार, 4/156, 32. क्रियाकोष, मंगलाचरण 34-35, 33. अमितगतिश्रावकाचार, 8/76-86, 34. वही, 8/87, 35. धर्मसंग्रहश्रावकाचार, 6/294, 36. द्रष्टव्य-सागार धर्मामृत, 2/42-45, 37. वही, 2/64-66, 38. धर्मसंग्रह श्रावकाचार, 7/120, 39. उमास्वामिश्रावकाचार, 183-185, 40. श्रावकाचारसारोद्धार, 3/5, 41. रत्नमाला, 22-25, 42. पद्मनन्दि पञ्चविंशतिका, 16-19, 43. रयणसार, 70-72

—उपाचार्य एवं अध्यक्ष-संस्कृत विभाग
एस. डी. कॉलेज, मुजफ्फरनगर

"नाशाम्बरत्वे न सिताम्बरत्वे,
न तर्कवादे न च तत्त्ववादे।
न पक्षसेवाश्रयणेन मुक्तिः,
कषायमुक्तिः किल मुक्तिरेव।।"

मुक्ति न तो केवल दिगम्बर होने में है और न श्वेताम्बर बनने में, वह न कोरे तर्कवाद में रखी है और न तत्त्ववाद में ही पायी जाती है, पक्ष सेवा का आश्रय लेने से भी मुक्ति नहीं मिलती, मुक्ति तो वास्तव मे कषायमुक्ति है।

''पहाड़ी लघु चित्रशैलियों में शिव-परिवार विषयक चित्र''

—कु. रूपा जैन, शोधछात्रा

पहाड़ी चित्रकला के जन्म की कहानी ज्ञात नहीं है, हम नहीं जानते कब और कहाँ चित्रकला के क्षेत्र में इस कला ने अपना महत्वपूर्ण स्थान बना लिया? आनन्द कुमार स्वामी प्रथम विद्वान् थे जिन्होंने लगभग 8 दशक पूर्व इस कला के प्रति संसार का ध्यान आकर्षित किया और इन्हीं कालों के दौरान साहित्यिक विकास हुआ। विभिन्न विद्वानों के इस सम्बन्ध में, विशेषतौर पर पहाड़ी चित्रकला के प्रारम्भ से सम्बन्धित अनेक मत होने के कारण इसके जन्म की कहानी अनिश्चित बनी हुई है। पहाड़ी चित्रकला से सम्बन्धित प्रामाणिक तथ्य शोचनीय रूप से अत्यन्त अल्प हैं एवं जो थोड़े बहुत उपलब्ध हैं, वे भी स्पष्ट नहीं हैं।

पहाड़ी चित्रकला के प्रचार-प्रसार के लिए बहुत सी परिस्थितियाँ उत्तरदायी थीं। समकालीन काव्य दो विषयों के रूप में स्वीकार किया गया—इसका प्रथम रूप या तो पूर्ण रूप से ईश्वर के पूर्णत्व की ओर केन्द्रित था या शृंगारिक प्रेम से सम्बन्धित था। चित्र इन दोनों विषयों का मिश्रण थे और उनके बीच की विभाजन रेखा अत्यन्त सूक्ष्म थी। चित्र पूर्णतः कर्तव्यनिष्ठा एवं तीव्र लगन के प्रमाण थे जिनका चित्रण विषयों को अनुभव किये बिना या समझे बिना नहीं किया जा सकता। राजा सामान्य जनता के मनोरंजन के लिए सभी प्रकार के बाहरी सांस्कृतिक कार्यों में जैसे—नृत्य, संगीत, नाटक आदि अनेक कार्य, जो सामान्य जनता के आनन्द हेतु थे, अपना पूर्ण योगदान देते थे। चित्रकार सूक्ष्मता पूर्वक उन अवसरों को अपने कार्य से कैद कर लेते थे। आइजाजुद्दीन ने पहाड़ी चित्रकला के विषय में सूक्ष्मतापूर्वक अध्ययन किया एवं चित्रकारों की उपलब्धि और संरक्षकों की महत्त्वपूर्ण भूमिका का वर्णन किया। वे लिखते हैं—

"Without the Pahari Painters, the Pahari states and their rules might well have been forgotton; without the Pahari rajas, the Painters would certainly have been forgotton."

पहाड़ी चित्रकला को सहजता एवं ताजगी में समकालीन मुगल शैली के और काव्यात्मक गुण में राजस्थानी कला के रूप में पहचाना जा सकता है। वह क्या है जो पहाड़ी कला को इतना आकर्षित बनाती है? उसके काव्यात्मक विषय या उसकी आकर्षित रंग योजना या सुन्दर रेखांकन या उसके भावपूर्ण चेहरे? इनमें से मात्र एक नहीं बल्कि समस्त विशेषताएं एक साथ हमें पहाड़ी कलम की समस्त शैलियों में दिखायी देती हैं।

प्रायः यह कहा जाता है कि पहाड़ी चित्रकला अपने चरित्र में धार्मिक है। यह बात कुछ सीमा तक सही है। पहाड़ी कलम की विभिन्न शैलियों जैसे—कांगड़ा, बसौहली, गढ़वाल, गुलेर, चम्बा, मण्डी, कुल्लू, नूरपुर आदि के चित्रकारों के पास विषय सामग्री पहले से ही उपलब्ध थी। राजस्थानी चित्रकारों द्वारा अनेक संस्कृत ग्रन्थों जैसे—रामायण, महाभारत, भागवत पुराण, मारकण्डेय पुराण, रसमंजरा आदि के उदाहरणों के ही पुनर्व्याख्या पहाड़ी चित्रकला की विभिन्न शैलियों में की गई।

धार्मिक विषयों के साथ-साथ प्रेम भी विभिन्न पहाड़ी शैलियों में प्रमुख विषय बन गया था। यह सर्वप्रथम आनन्द कुमार स्वामी ने स्पष्ट किया। वे स्वीकार करते हैं :-

"उनकी विशिष्टता अद्वितीय है; जो स्थान भू-दृश्य कला में चीनियों को प्राप्त है, यहाँ वही स्थान मानवीय प्रेम को प्राप्त है।"

डब्ल्यू. जी. आर्चर के अनुसार :-

"Exquisite rendering of the subtle ectasies of romance are seen only in the pictures from the Punjab Hills."

प्रेमपूर्ण विषयों को चारित्रिक रूप से चित्रित करने में चित्रकारों ने

कृष्ण-राधा के साथ-साथ शिव-पार्वती को भी चित्रित किया है। शिवपुराण के विभिन्न रूपों से सम्बन्ध रखते हुए हमें शिव के व्यक्तित्व के विषय में ज्ञान मिलता है। शिव को योगी एवं प्रेमी दोनों रूपों में चित्रित किया गया है। महान् ग्रन्थों, पुराणों, कथानकों आदि के आधार पर शिव एक भ्रमणशील, जंगलो व श्मशान भूमि के निवासी, जानवरों की चर्म व सर्पाभूषणों से सुसज्जित ध्यान मग्न पाये जाते हैं। वे अधिकाशतः नग्न एवं शरीर पर भस्म रमाये पाये जाते हैं।

भारतीय विचारधारा के अनुसार 'भगवान शिव' अन्तिम पुरुषत्व व उनकी पत्नी पार्वती अन्तिम स्त्रीत्व को प्रस्तुत करती है एवं उनका संयोग, मिलन अंतिम निर्माण कार्यो को प्रदर्शित करता है। पहाड़ी चित्रकारों ने शिव-पार्वती के इसी शृंगारिक जीवन, पारिवारिक जीवन को अपने चित्रों का विषय बनाया। शिव-पार्वती के विवाह एवं शृंगारिक जीवन का वर्णन कालिदास ने "कुमारसम्भवम्" में अत्यन्त सुन्दरता से किया है। उसी शब्दात्मक वर्णन का चित्रात्मक वर्णन हमें पहाड़ी चित्रकला में देखने को मिलता है। शिव से सम्बन्धित चित्रों को विशिष्टताओं के आधार पर दो भागों में बाँटा जा सकता है :- पहले वे चित्र जिनमें शिव सौम्य रूप में चित्रित है एवं दूसरे वे जिनमें उन्हें उग्र रूप में चित्रित किया गया है।

किन्तु पहाड़ी कलम की विभिन्न शैलियों में—कांगड़ा, गुलेर, गढ़वाल, बसौहली, चम्बा, मण्डी, नूरपुर—शिव के सम्बन्धित विभिन्न कथानकों का, नृत्यकार शिव, श्मशानचारी शिव, संगीतकार रागमाला में वर्णित शिव विभिन्न धार्मिक रीतियों को मिलाने वाले, पारिवारिक सदस्यों के साथ एवं शिव-पार्वती के अनेक श्रृंगारपूर्ण चित्रों को चित्रकारों ने चित्रित किया है।

पहाड़ी लघु चित्रशैलियों में शिव को सर्वाधिक उन रूपों में चित्रित किया है जिनमें वे अपने परिवार—पत्नी पार्वती, दो पुत्रों गणेश व कार्तिकेय के साथ हैं। कुछ चित्रों मं सभी सदस्यों को अपने अपने वाहनो क्रमशः नंदी, सिंह, चूहा एवं मोर के साथ भी चित्रित किया गया है। शिव को पारिवारिक सदस्यों के रूप में भी दो प्रकार से चित्रित किया है—एक तो सामान्य सदस्य के रूप में

व दूसरा माहेश्वर, सदाशिव के रूप में।

18वीं शताब्दी के अंत में कांगड़ा के एक चित्र में शिव परिवार को कैलाश पर्वत पर घूमते हुए दर्शाया गया है। प्रस्तुत चित्र अब भारत कला भवन वाराणसी में है। गणेश शिव के वाहन नंदी पर सवार हैं। बराबर में गणेश का वाहन चूहा चल रहा है एवं पीछे सिंह, पार्वती का वाहन आ रहा है। शिव एक हाथ में पार्वती का हाथ पकड़कर उन्हें पहाड़ी के नीचे उतार रहे हैं व दूसरे हाथ में व्याघ्रचर्म लिये हुए हैं। शिव ने कंधे पर पोटली लटकायी हुयी है। शिव को कर्ण-कुण्डल, सर्पाहार, तृतीय नेत्र व भुंजबंद से सुशोभित चित्रित किया गया है। पार्वती ने गोद में कार्तिकेय को लिया हुआ है व उसका सिर पूर्ण रूप से ओढ़नी से ढका हुआ है।

प्रस्तुत चित्र में एक नवीन परिवर्तन दिखलायी देता है वह है वानर का चित्रण। वानर को पोटली एवं मृदंग लटकाये चित्रित किया गया है। प्राकृतिक सौन्दर्य अत्यन्त सुन्दर है जो चित्रकार की कार्यकुशलता को प्रकट करता है। इसी प्रकार का अन्य चित्र गढ़वाल शैली में मिलता है।

पारिवारिक यात्रा का अन्य चित्र नूरपुर का है जो अंब जम्मू की डोगरा आर्ट गैलरी में है। पार्वती को नंदी पर दोनों ओर पैर किये एवं बायें हाथ में गणेश को पकड़े चित्रित किया गया है।

चित्र में आगे चलते शिव, बायें हाथ में कार्तिकेय को लिये पीछे मुड़कर देख रहे हैं। शिव के दायें हाथ में त्रिशूल, जिस पर वृषभ-चिन्ह से अंकित तिकोना कपड़ा बंधा है। पारिवारिक यात्रा का यह अत्यन्त सुंदर चित्र है।

पहाड़ी चित्रकारों ने शिव को उनके 'महेश्वर' रूप में भी परिवार के साथ चित्रित किया है। 18वीं शताब्दी के अंत के कागड़ा-गुलेर शैली के एक चित्र में महेश्वर को परिवार के साथ पहाड़ियों के ऊपर बैठा दर्शाया गया है। पंचमुखी महेश्वर को चार हाथों में विभिन्न उपादान लिये परिवार समेत व्याघ्रचर्म रूपी चादर पर पहाड़ियों के बीच बैठा चित्रित किया गया है। महेश्वर के बायीं ओर पार्वती व दायीं ओर कार्तिकेय बैठे हैं। कार्तिकेय के बराबर में

गणेश बैठे हैं। अग्रभूमि में नंदी, सिंह, नंदी के ऊपर मोर व पीछे चूहा चित्रित है। सभी के मध्य में अग्नि प्रज्ज्वलित है।

गुलेर—कांगड़ा के अन्य चित्र में महेश्वर को परिवार के साथ पहाड़ियों में व्याघ्र-चर्म पर बैठा दिखाया गया है।

साहित्यिक एवं पौराणिक वर्णनों में शिव के पश्चात पार्वती का नाम होता है। पार्वती का नाम 'पर्वत' से लिया गया है। उन्हें अनेक नामों से पुकारा जाता है जो उन्हें शिव की प्राप्ति हेतु कठिन तपस्या करने हेतु दिये गये थे—"उमा", "गौरी" और "अपारा"। पार्वती स्वयं में इतनी शक्तिशाली हैं कि वे सभी ओर से शिव को ढके रहती हैं। भक्तों के लिए वे समस्त संसारी और सर्वातिरिक्त शक्तियों को बढ़ाने वाली है व इसी कारण उन्हें "राजेश्वरी" के नाम से पुकारा जाता है।

पर्वताराज की पुत्री होने के कारण उन्हें "गिरिजा" और "हेमवती" के नाम से भी जान्रा जाता है। गणपति व स्कंद की देखभाल करने के कारण उन्हें "अम्बा" और "अम्बिका" के नाम से पुकारा जाता है। "नारायणी" और "वैष्णवी" भी उनके प्रसिद्ध नाम है। शिव की पत्नी के रूप में वे "विमर्शिनी" हैं। शिव की इच्छाओं की पूर्ति करने हेतु वे "अन्नपूर्णा" हैं। "मीनाक्षी" और "गौरी" के रूप में वे स्वयं को शिव भक्ति में समर्पित कर देती हैं।

कालिदास ने "कुमार सम्भवम्" में पार्वती के चरित्र को गंगाजल से भी अधिक पवित्र माना है—

विकीर्णसप्तर्षिबलिप्रहासिभि
स्तथा न गांडैगः सलिलैदिवश्च्युतैः।
तथा त्वदीयैश्चरितैरनाबिलै
महीधरः पावित एष सान्वयः।।

(कालिदास, कुमारसम्भवम्—5/37)

पार्वती के चरित्र में उपस्थित उदात्त एवं उत्कृष्ट गुण पार्वती को साधारण मानव की कोटि से उठाकर देवता की श्रेणी में बिठा देते है।

शिव-पार्वती के पुत्र एवं हस्त-मुखी देवता 'गणेश' का जन्म अनेक प्रकार से माना जाता है। कुछ ग्रन्थ उनका जन्म पूर्णरूप से पार्वती से मानते है तो कुछ शिव से जन्मित मानते है। लिंग पुराण के अनुसार देवताओं के ध्यान में विघ्न डालने वाले राक्षसों के नाश हेतु शिव ने विघ्नेश्वर का निर्माण किया। वराह पुराण के अनुसार देवताओं की सहायता हेतु शिव के शरीर से पसीने की बूंदो से विनायक का जन्म होता है।

शिव पुराण में रूद्रसंहिता के अनुसार गणेश का जन्म पार्वती के शरीर के मैल से हुआ था। पद्मपुराण, स्कंदपुराण, मत्स्यपुराण में भी गणेश को पार्वती के मैल से उत्पन्न हुआ बतलाया गया है।

शिव-पार्वती से गणेश का जन्म मानने वालों के मतानुसार एक बार शिव-पार्वती जंगल में घूमते हुये हस्त युग्ल को संयोगावस्था में देखते हैं एवं स्वयं को उसी रूप में सोचकर एक दूसरे के संयोग का आनन्द लेने लगते है। फलस्वरूप जो बालक जन्म लेता है वह हस्तमुखी होता है।

बौद्ध मतानुसार हस्त-मुखी गणेश का जन्म राजा विक्रमाजीत की रक्षा करने हेतु हुआ था। बौद्ध धर्म के विचार हिन्दू धर्म से भिन्न हैं। नेपाली बौद्ध न तो पार्वती से और न ही शिव से गणेश का जन्म मानते हैं। उनके मतानुसार वे स्वयं संसार में अवतरित हुये एवं सूर्य की किरणों के समान चमके। इसी कारण वे सूर्यविनायक के नाम से पुकारे जाते हैं।

पहाड़ी चित्रकारों ने अधिकांशतः गणेश को हस्त-मुखी एवं उनकी बाल्यावस्था में परिवार के साथ चित्रित किया है। कहीं-कहीं चित्रकारों ने उन्हें उनकी पत्नियों रिद्धी, सिद्धी के साथ भी चित्रित किया है किन्तु अधिकांशतः उनको परिवार के साथ अनेक कार्यों में व्यस्त दर्शाया गया है।

शिव-पार्वती के दूसरे पुत्र कार्तिकेय, स्कंद का जन्म पूर्ण रूप से शिव द्वारा माना जाता है। तारकासुर के अत्याचारों से देवताओं को बचाने हेतु शिव, कार्तिकेय को उत्पन्न करते हैं। इस अद्वितीय बालक की रोशनी से सभी देवतागण श्रद्धायुक्त एवं भय से भयभीत होते हैं एवं इसी कारण इस बालक

को स्कंद-प्रबल प्रवाह, महासेना-महाननेता, पावकी-अग्नी का पुत्र, गंगेय-गंगा का पुत्र, कुमार-बालक, सरभु-बीच में पैदा हुआ व कार्तिकेय-कृतिका का पुत्र आदि नामों से पुकारा गया।

कार्तिकेय को अकेले पहाड़ी चित्रकारों ने सम्भवतः चित्रित नहीं किया। मात्र एक चित्र में उनको माता-पिता के साथ दर्शाया गया है।

गणेश, कार्तिकेय के अतिरिक्त शिव पार्वती का एक अन्य पुत्र माना जाता है–अन्धका। इनके जन्म के विषय में कहा जाता है कि एक बार पार्वती खेल-खेल में शिव की आँखें ढक देती हैं। उनके हाथों में पसीना आने लगता है। शिव के नेत्रों की गर्मी और पार्वती के पसीने से एक दुर्बल एवं क्षीण बालक का जन्म होता है। शिव राक्षसों के राजा हिरण्याक्ष की भक्ति से प्रसन्न होकर अपना पुत्र उन्हें दे देते हैं। अंधका पार्वती के सौन्दर्य पर मोहित होकर उन्हें पाने हेतु कैलाश पर्वत पर पहुंचता है। तब शिव उन्हें अपन त्रिशूल से घेर लेते हैं एवं अंधका अपनी दिव्य दृष्टि खो देता है।

पहाड़ी चित्रकारों ने शिव को अंधका के ऊपर आक्रमण करते हुए एक चित्र में चित्रित किया है।

इस प्रकार पहाड़ी चित्रकारों ने शिव परिवार के पारिवारिक सदस्यों को अलग-अलग एवं साथ-साथ विभिन्न प्रकार से चित्रित किया है। शिव परिवार को पहाड़ियों के मध्य बैठे हुए विभिनन क्रिया कलापों में व्यस्त दर्शाया गया है। कहीं पार्वती, गणेश एवं कार्तिकेय शिव को उनके प्रिय मादक पेय भांग बनाने में मदद कर रहे है तो कहीं नरमुण्डों की माला बनाने में या रजाई बनाने में गणेश, कार्तिकेय अपने माता-पिता की सहायता कर रहे हैं। कहीं सभी सदस्यों को अपने-अपने वाहनों पर सवार होकर विचरण करते दर्शाया गया है तो कहीं गणेश, पार्वती, कार्तिकेय व शिव के अन्य गण शिव का नृत्य देखने में व्यस्त हैं। किसी चित्र में शिव परिवार को वृक्ष के नीचे व्याघ्र-चर्म पर आरामदायक मुद्रा में चित्रित किया गया है तो किसी में शिव-परिवार को ठण्ड से बचने हेतु हस्तचर्म में लिपटा हुआ दर्शाया गया है।

चित्रों में शिवाकृति को सामान्य पुरुष के रूप में ही अधिकाशतः दो हाथों व एक मुख में चित्रित किया गया है। चित्रकारों ने उनको व्याघ्र-चर्म की धोती, कर्ण-कुण्डल, तृतीय नेत्र, जटा जूट बालों, भुजबंद, सर्पाहार, अर्द्धचंद्रकला से सुसज्जित दर्शाया है। शिव के साथ उनके वाहन नंदी का चित्रण अधिकांशतः मिलता है। शिव को उनके त्रिशूल एवं उस पर वृषभ के चिन्ह से चिन्हित तिकोने कपड़े के साथ चित्रित किया गया है। पार्वती को लंहगा, चोली, ओढ़नी व आभूषणों से सुसज्जित दर्शाया गया है। उनका सिर अधिकांशतः ओढ़नी से ढका रहता है। पार्वती प्रत्येक क्रियाकलाप में शिव की मदद कर रही है अन्य विवाहित युगलों के समान वे लड़ते-झगड़ते है, चौपड़ खेलते है और खेलते-खेलते झगड़ा करने लगते है। उनके पुत्र गणेश व कार्तिकेय को माता-पिता के साथ कार्यो में हाथ बंटाते दर्शाया गया है। गणेश को प्रत्येक चित्र में हस्त-मुखी व कार्तिकेय को पंचमुखी चित्रित किया गया है। कहीं-2 भक्तजनों को शिव-परिवार के प्रति अपनी भक्ति-भावना को प्रकट करते हुए दर्शाया गया है।

18वीं शताब्दीं के मध्यकाल की शैली का चम्बा का एक चित्र अब भूरी सिंह म्यूजियम, चम्बा में है। प्रस्तुत चित्र में शिव-परिवार को खुले मैदान में वृक्ष के नीचे व्याघ्र-चर्म रूपी चादर पर बैठा चित्रित किया गया है। शिव के सामने चम्बा के राजा हाथ जोड़े भक्ति-भावना प्रकट करते हुए चित्रित है। पृष्ठभूमि में वृक्ष के अतिरिक्त सम्पूर्ण समतल है।

शिव-परिवार को भांग तैयार करते हुए पहाड़ी चित्रकारों ने सर्वाधिक चित्रित किया है। इसी विषय पर 1810 ई. में कागड़ा में अत्यन्त सुन्दर चित्र चित्रित किया गया। शिव-पार्वती हस्त-चर्म पर बैठे भांग छान रहे हैं। शिव का चेहरा सौम्यता से पूर्ण है। शिव को सर्पाभूषण, कर्ण-कुण्डल, तृतीय नेत्र, अर्द्धचंद्रकला से सुशोभित देखा जा सकता है। शिव को कंधे पर खुले बिखरे बालों एवं व्याघ्र-चर्म का चित्रण अत्यन्त सुंदरता के साथ किया गया है। नीचे मैदान में गणेश कुछ पीस रहे हैं एवं कार्तिकेय प्याले में कुछ डाल रहे हैं। कार्तिकेय को चारों हाथों में विभिन्न उपादान लिये हुए अंकित किया गया है।

पास ही लकड़ियाँ जलती हुई चित्रित है। अग्रभूमि में नंदी, सिंह एवं चूहे को आरामदायक मुद्रा में दर्शाया गया है। पृष्ठभूमि में वृक्ष पर मोर चित्रित है।

शिव एवं शिव-परिवार से सम्बन्धित पहाड़ी चित्रकला की विभिन्न शैलियों में विभिन्न विषयों पर विभिन्न चित्रों को अलग-2 तकनीकी कुशलता एवं सूक्ष्मता के साथ चित्रित किया गया है।

लगभग 1800-05 ई. का एक चित्र कांगड़ा के राजा संसारचंद की कार्यशाला का परिणाम प्रतीत होता है। शिव-पार्वती व्याघ्रचर्म पर बैठे है। पार्वती एक और शिव की भांग छानने में मदद कर रही हैं तो दूसरी ओर मुढ़कर गोद में बैठे गणेश को घूर रही हैं चूहा, मोर, नंदी एवं सिंह पूर्ण आरामदायक मुद्रा में अंकित हैं। पार्वती सिर तक ओढ़नी एवं आभूषणों से युक्त दर्शाया गया है और शिव को व्याघ्र-चर्म ओढे हुए, सर्पाहार, तीसरे नेत्र, भुजबंद, रुद्राक्षमाला एवं अर्द्धचंद्रकला से सुशोभित चित्रित किया गया है।

पहाड़ी चित्रकला की लघु शैली में धार्मिक विषय भक्ति-भावना के साथ कोमल घरेलू विचारों की तकनीक को शुद्धता से जोड़ते हैं।

गुलरे के एक चित्र में शिव को कपड़ा सिलते एवं पार्वती को नरमुण्डों का हार बनाते चित्रित किया गया है। उनका पुत्र कार्तिकेय माता की हार बनाने में मदद कर रहा है एवं गणेश पिता के सर्पाहार के साथ खेल रहा है। वाहन नंदी, सिंह, मोर व चूहे को आरामदायक मुद्रा में चित्रित किया गया है।

उपर्युक्त चित्रों के अतिरिक्त पहाड़ी चित्रकारों ने शिव एवं शिव-परिवार विषय पर इतने अधिक चित्रों का निर्माण किया कि उनकी गिनती करना कठिन है। ये चित्र पहाड़ी चित्रकारों द्वारा इतने अधिक उपस्थित थे कि उन्हें पहाड़ी राज्यों की बड़ी-2 इमारतों में देखा जा सकता है। इन चित्रों की रचना चित्रकार भावनात्मक प्रवृत्तियों के कारण करते हैं न कि श्रद्धायुक्त भय के कारण। इन चित्रों के कारण ही हमें शिव-परिवार के विषय में, उनके विभिन्न क्रिया कलापों के विषय में, उनके रंग, रूप, आकार, वस्त्राभूषण, वाद्ययन्त्रों आदि के विषय में ज्ञान मिलता है। यद्यपि इन सभी का शब्दात्मक वर्णन हमें

विभिन्न पुराणों, साहित्यों में मिलता है किन्तु उन्हें सभी नहीं समझ सकते। हमारे देश में बहुत से अनपढ़ व्यक्ति हैं जो इन पुराणों का अध्ययन करने में असमर्थ हैं किन्तु चित्रों के माध्यम से वे शिव-परिवार के विषय में, उनके कार्यो के बारे में जानकारी प्राप्त कर सकते हैं क्योंकि चित्रों क़ो समझने हेतु भावों की आवश्यकता होती है भाषा की नहीं। चित्रों की भाषा को हम किसी सीमा में नहीं बांध सकते।

अतः शिव एवं शिव-परिवार के विषय में जानकारी प्राप्त करने हेतु इन चित्रों का अध्ययन आवश्यक है।

—चित्रकला विभाग
दि. जैन कॉलेज, बड़ौत

पदार्थों के यथार्थ ज्ञान से ज्ञान-ध्यान को सार्थक बनावें

—डॉ. राजेन्द्रकुमार बंसल

आचार्य उमास्वाति ने तत्त्वार्थ सूत्र में मोक्ष मार्ग की प्ररूपणा निम्न सूत्र में की—

सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्राणि मोक्षमार्गः (1/1)

अर्थ — सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र ये तीनों मिलकर मोक्ष का मार्ग है।

श्री भगवत्-पुष्पदन्त-भूतबलि-प्रणीत षट्खण्डागम की वीरसेनाचार्य विरचित धवला टीका-सत्परूपणा-1 की निम्न गाथा में सम्यग्दर्शन एवं पदार्थो के ज्ञान का महत्व दर्शाया है—

छपांच-णव-विहाणं अत्थाणं जिणवरोव इट्ठाणं।
आणाए अहिगमेण व सद्दहणं होइ सम्मत्तं।। 212।।

(धवला पुस्तक-9, पृष्ठ 397 : 1-1-114)

अर्थ—जिनेन्द्र देव के द्वारा उपदिष्ट छह द्रव्य पाँच अस्तिकाय, नव पदार्थों का आज्ञा अथवा अधिगम श्रद्धान करने को सम्यक्त्व कहते हैं।

यह व्यवहार सम्यग्दर्शन का स्वरूप है जो निश्चय सम्यग्दर्शन का कारण या निमित्त है।

उक्त कथनों में मोक्षमार्ग में सम्यग्दर्शन की प्रधानता और सम्यग्दर्शन हेतु पदार्थो के यथार्थ स्वरूप का ज्ञान-अवबोध का महत्व निर्विवाद रूप से स्पष्ट झलकता है।

भावविहीन क्रिया की निरर्थकता — आचार्य कुन्दकुन्द देव ने दर्शन पाहुड में

दंसण मूलो धम्मो—अर्थात् धर्म का मूल सम्यग्दर्शन है और दर्शन हीन व्यक्ति अवंदनीय है, ऐसा कहा है (गा.2)। उनके अनुसार जो दर्शन से भ्रष्ट हैं, वे भ्रष्ट ही हैं उन्हें निर्वाण नहीं होता। चारित्र से भ्रष्ट को पुनः चारित्र धारण करने पर सिद्धि मिल सकती है पर दर्शन हीन को नहीं (गा. 3)। दर्शन रहित व्यक्ति उग्र तपश्चर्या के बाद भी बोधि अर्थात् रत्नत्रय को प्राप्त नहीं होता भले वह एक हजार कोटि वर्ष तक तप क्यों न करे (गा. 5)।

सम्यक्त्व से चारित्र होता है। चारित्र से मुक्ति होती है। सम्यक्त्व के अभाव में चारित्र भी मिथ्याचारित्र कहलाता है। (गा. 31/15। जिसके हृदय में सम्यक्त्व रूपी निर्मल जल प्रवाहित होता है उसे कर्मरज आवृत नहीं करती तथा पूर्वबद्ध कर्मो की भी निर्जरा होती है (गा. 7)।

आचार्य कुन्दकुन्द ने चारित्र/धर्म का स्वरूप प्रवचनसार की गाथा 7 में निम्न रूप से दर्शाया है—

चारित्तं खलु धम्मो धम्मो जो सो समोत्ति णिद्दिट्ठो।
मोहक्खोह विहीणो परिणामो अप्पणो हु समो।।

अर्थ—चारित्र वास्तव में धर्म है। जो धर्म है वह साम्य है ऐसा शास्त्रों में कहा है। साम्य मोह-क्षोभ रहित ऐसा आत्मा का परिणाम (भाव) है।

मोह-क्षोभ रहित आत्मा के वीतरागी-शुद्ध परिणामों की प्राप्ति हेतु मोह क्षयार्थ आचार्य कुन्दकुन्द देव ने कहा कि जो अरहंत को द्रव्यपने, गुणपने और पर्यायपने जानता है, वह अपने आत्मा को जानता है और उसका मोह अवश्य लय को प्राप्त होता है। इस सम्भावना में प्रवचनसार की निम्न गाथा द्रष्टव्य है—

जो जाणदि अरहंतं दव्वत्त गुणत्त पज्जयत्तेहिं।
सो जाणदि अप्पाणं मोहो खलु जादि तस्स लयं।। (प्र. सा. 80)

प्रवचनसार की गाथा-86 में आचार्य कुन्दकुन्द ने प्रकारान्तर से मोह क्षय हेतु कहा कि 'जिनशास्त्र द्वारा प्रत्यक्षादि प्रमाणों से पदार्थों को जानने वाले के

नियम से मोहोपचय-मोह का समूहक्षय हो जाता है इसलिए शास्त्र का सम्यक् प्रकार से अध्ययन करना चाहिये।

आचार्य देव के अनुसार, शुद्धनय से शुद्धात्मा की उपलब्धि होती है जिसमें साधक 'मैं पर का नहीं हूँ, पर मेरे नहीं हैं, मैं एक ज्ञान हूं' इस प्रकार ध्रुव आत्मा का ध्यान करता है। वह ध्याता ध्यान काल में (एकाग्रचिंता निरोध के समय) वास्तव में शुद्धात्मा होता है (गा. 191)। परम आत्मा का ध्यान करने वाले विशुद्धात्मा साधक की मोहग्रंथि का क्षय हो जाता है, भले ही वह साकार *हो या निराकार (गाथा 194)। मोहग्रंथि के क्षय के पश्चात् राग-द्वेष का क्षय* कर समत्व भाव से श्रमण अक्षय सांख्या को पाता है। (गा. 195)। इस कथन से मोक्षमार्ग को सोपानों का भी ज्ञान होता है।

भाव-विहीन अर्थात् सम्यग्दर्शन रहित धर्म-कर्म की बाह्य क्रियाएँ जप-तप निरर्थक होते हैं इस सम्बन्ध में भाव पाहुड में आचार्य कुन्दकुन्द देव कहते हैं कि 'भाव रहित साधु यदि जन्म-जन्मातरों तक कायोत्सर्ग मुद्रा में वस्त्रादिक का त्याग कर, करोड़ों वर्षो तक तपस्या करे तब भी उसे सिद्धि की प्राप्ति नहीं होती (गा. 4)।

पदार्थो के यथार्थ बोध रूप ज्ञान की महिमा दर्शाने वाले छहढालाकार पं. दौलतराम जी के निम्न पद भी दृष्टव्य हैं–

ज्ञान समान न आन, जगत में सुख को कारण।
इहि परमामृत जन्म-जरा-मृतुरोग निवारण।।
कोटि जन्म तप तपें, ज्ञान बिन कर्म झरे जे।
ज्ञानी के छिन माहिं, त्रिगुप्ति तैं सहज टरैं ते।।
मुनिव्रत धार अनंतबार, ग्रीवक उपजायो।
पै निज आतम ज्ञान बिना, सुख लेश न पायो।।
जे पूरब-शिव गये जाहिं, अरु आगे जै हैं।
सो सब महिमा ज्ञान-तनी, मुनिनाथ कहै हैं।।

(छहढाला-चौथी ढाल)

सूत्रकार आचार्य उमास्वाति ने तत्वार्थ के श्रद्धान को सम्यग्दर्शन कहा है। 'तत्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनम्' (तत्त्वार्थ सूत्र 1/2)। 'तत्त्वेन अर्थ : तत्त्वार्थः'–तत्त्व अर्थात वस्तु के यथार्थ भाव-स्वरूप सहित अर्थ–जीवादि पदार्थों का श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है। नियमसार में जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, काल और आकाश यह तत्त्वार्थ कहे हैं, जो विविध गुण पर्याय युक्त हैं (गा. 9)। आत्मा के संदर्भ में शुद्धात्मा का जैसा स्वरूप है उसको उसी रूप जानना, समझना और अनुभव् करना सम्यग्दर्शन है। आत्मानुभव युक्त ज्ञान ही सम्यग्ज्ञान नाम पाता है।

'तन्निसर्गादधिगमाद्वा' (तत्त्वार्थ सूत्र 1/3)। सम्यग्दर्शन निसर्ग अर्थात स्वभाव से अथवा अधिगम-पर के उपदेश से उत्पन्न होता है। इसे ही देशनालब्धि कहते हैं। सर्वार्थसिद्धि के अनुसार अधिगम का अर्थ पदार्थ का ज्ञान है, जो नय-प्रमाण द्वारा होता है। अधिगमोऽर्थाववोधः (स. सि. 1/3/12) एवं प्रमाणनयैरधिगमः (तत्त्वार्थ सूत्र 1/6)।

धवलाकार के अनुसार अधिगम और ज्ञान प्रमाण ये दोनों एकार्थवाची हैं–'अधिगमो णाणपमाणमिदि एगट्ठो' (धवला-3/1-2-5/39/1)। अधिगम के दो भेद हैं– स्वार्थाधिगम जो ज्ञानात्मक है और परार्थाधिगम जो वचनात्मक है।

यह भी उल्लेखनीय है कि सभी जीवात्माएँ द्रव्य दृष्टि से सिद्ध समान शुद्ध, स्वतंत्र, स्वाधीन और परिपूर्ण हैं। द्रव्य-तत्त्व-पदार्थों के ममत्व तथा कर्तृत्व-भोक्तृत्व बुद्धि एवं तदनुसार आचरण के कारण अष्ट कर्म के बंधनों से आबद्ध हैं और कर्मोदय के अनुसार अनादिकाल से चार गति और चौरासी लाख योनियों के दुख उठा रहीं हैं। अज्ञान जन्य विभाव परिणति के कारण वे द्रव्यकर्म, भावकम और नौकर्मो से अपने को बंधी हुई मानती हैं और कर्म प्रकृति के उदय अनुसार नर-नरकादि पर्याय से अपने को एकाकार मानती हैं। ज्ञान, दर्शन, सुख रूप आत्म-शक्ति के अंशों में हानि-वृद्धि रूप पर्याय भेद मानती हैं। अखंड आत्मा के ज्ञान, दर्शन आदि गुणों को भेद रूप मानतीं है तथा कर्मोदय से आत्मा में उत्पन्न मोह-राग-द्वेषादि मनोविंकारों से अपने को

सुखी-दुःखी मानती हैं। जबकि यथार्थ में आत्मा कर्मो से अबद्ध-अस्पृष्ट, पयार्यो से द्रव्य, चलाचलता रहित, विशेष रहित और क्रोधादि भाव कर्मो से असंयुक्त पृथक हैं। इस प्रकार संसार दुःख का मूल पदार्थो का अयथार्थ ज्ञान एवं उससे उत्पन्न आत्म विस्मृति है।

उक्त विवेचन से यह स्पष्ट होता है कि संसार में दुःख का मूल जीवादि पदार्थों के प्रति अज्ञान-अश्रद्धान है तथा मोक्ष और मोक्ष मार्ग का आधार पदार्थो-द्रव्यों-तत्त्वों का ज्ञान एवं भाव बोध है। इससे ही विद्यमान त्रिदोषमय पर-समय की प्रवृत्ति से आत्मीक, अविनाशी, अतीन्द्रिय आनंद की प्राप्ति शक्य है और उसी सें कर्मों के संवर तथा निर्जरा के हेतु ज्ञान-ध्यान की परिणति फलीभूत होगी। इस परिप्रेक्षय में द्रव्य, अस्तिकाय, तत्त्व और पदार्थों का यर्थाथ स्वरूप समझना अपेक्षित है। सम्पूर्ण जैनागम में इनका विशद, सूक्ष्मग्राही वर्णन अनेकांत स्वरूप में अति वैज्ञानिक दृष्टिकोण से तर्क-युक्ति पूर्वक किया गया है। आधुनिक वैज्ञानिक अनुसंधानों के निष्कर्ष इनके स्वरूप की पुष्टि करते हैं। इस दृष्टि से जैन-दर्शन का पदार्थ-विज्ञान विश्व की अमूल्य धरोहर है।

द्रव्य, तत्त्व और पदार्थों का स्वरूप एवं महत्त्व :

श्री माघनन्दि योगीन्द्र ने **'शास्त्रसार समुच्चय'** शास्त्र के द्रव्यानुयोगवेद में निम्न चार सूत्रों का उल्लेख किया है–

1. षड् द्रव्याणि, 2. पञ्चास्तिकायाः, 3. सप्त तत्त्वानि, 4. नव पदार्थाः

इन सूत्रों का संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है–

षड् द्रव्याणि :- यह लोक द्रव्यों का समूह है। जो मूल पदार्थ अपनी क्रम नियमिति पर्याय को प्राप्त हो वह द्रव्य है। द्रव्य-उत्पाद, व्यय और ध्रौव्ययुक्त होता है। द्रव्य छः हैं–जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल। इनमें जीव द्रव्य चेतन है शेष पांच द्रव्य अचेतन हैं। पुद्गल द्रव्य रूपी है, शेष पांच द्रव्य अरूपी हैं। दृश्यमान जगत में रूपी पुद्गल ही अनुभव में आ रहा है। पुद्गल में रूप, रस, गंध, वर्ण और स्पर्श गुण पाये जाते हैं। द्रव्य कर्म और

नोकर्म जीव के साथ अनादि से लगे हैं, वे सब पुद्‌गल रूप हैं। जीव द्रव्य ज्ञान, दर्शन, चारित्र सुख और वीर्य जैसे अनंत अनुपम गुणों से युक्त है। अरूपी होते हुए भी सुख-दुःख, ज्ञान-दर्शन आदि का अनुभव जीव ही करता है। जीव द्रव्य और पुद्‌गल द्रव्य का परिणमन स्वभाव और विभाव रूप होता है। शेष चार द्रव्यों का परिणमन स्वभाव रूप ही होता है। धर्म द्रव्य गति हेतुत्व, अधर्म द्रव्य स्थिति हेतुत्व, आकाश द्रव्य अवगाहन हेतुत्व और काल द्रव्य परिणमन हेतुत्व स्वभाव वाले हैं।

छहों द्रव्य अनादि-अनंत हैं, स्वतंत्र, स्वाधीन और स्वयंभू हैं, नित्य हैं। स्वयं उपदान शक्ति अनुसार निरंतर परिणमन करते हैं। इन द्रव्यों के मध्य कर्ता-कर्म सम्बन्ध न होकर मात्र निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध होता है। षटप्रकार की क्रिया के कारण कर्ता-कर्म एक ही द्रव्य में घटित होते हैं, इसका आधार है भाव्य-भावक भाव की विद्यमानता जैसे—मिट्टी और घड़ा। भाव्य-भावकभाव के अभाव के कारण कोई किसी का भोक्ता भी नहीं है। चेतन और जड़ जगत के मध्य ज्ञायक-ज्ञेय सम्बन्ध हैं। सभी द्रव्यों में परस्पर एक क्षेत्रावगाही सम्बन्ध है। स्वयं परिणमनशील द्रव्यों का समूह लोक होने के कारण इस लोक का कोई कर्ता-हर्ता, रक्षक-विनाशक नहीं है।

आचार्य उमास्वाति एवं अन्य आचार्यों ने द्रव्य का लक्षण 'सत् द्रव्यलक्षणम्' (सूत्र 5/29), 'उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्' (सूत्र 5/30) एवं 'गुण पर्ययवद् द्रव्यम्' (सूत्र 5/38) कहा है। जो सत्ता रूप है वह द्रव्य है। सत्ता स्वभावतः उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य इन तीनों से युक्त होती है। यही सत् का लक्षण है। ब्रह्मा, महेश और विष्णु सत् के प्रतीक रूप हैं। प्रत्येक सत् प्रतिक्षण परिणमन करता है। अपने मौलिक तत्व अर्थात् द्रव्यत्वं को स्थिर (ध्रौव्य) रखकर पूर्व पर्याय का विनाश और उत्तर पर्याय की उत्पत्ति होना, द्रव्य की नियति है। पुद्‌गल द्रव्य के रूपांतरण हमारी दृष्टि में आते हैं और पुद्‌गल द्रव्य के माध्यम से जीव द्रव्य के परिणमन अनुभव में आते हैं। शेष द्रव्यों का परिणमन आगम प्रमाण है। इस प्रकार द्रव्य स्वभाव नित्यानित्य है। द्रव्य रूप से नित्य, पर्यायरूप से अनित्य।

जैन दर्शन की लोक व्यवस्था का मूल मंत्र है, कि किसी भाव अर्थात् सत् का अत्यन्त नाश नहीं होता और किसी अभाव या असत् की उत्पाद नहीं होता। सभी पदार्थ अपने गुण और पर्याय रूप से उत्पाद व्यय करते रहते हैं। इस सम्बन्ध में निम्न गाथा दृष्टव्य है–

"भावस्स णत्थि णासो णत्थि अभावस्स चेव उप्पादो।
गुण पज्जएसु भावा उप्पायवयं पकुव्वंति

(–पंचा. गाथा 15, जैन दर्शन-पृष्ठ 68)

सत्ता, सत्व, सत्, सामान्य, द्रव्य, अन्वय, वस्तु, अर्थ और विधि ये नौ सामान्य रूप से अर्थ के ही वाचक हैं।

द्रव्य को गुण और पर्याय वाला कहा गया है। 'अन्वयिनो गुणाः' अर्थात् गुण अन्वयी होते हैं और द्रव्य के साथ सदैव रहते हैं। 'व्यतिरेकिणः पर्यायाः' अर्थात् पर्याय व्यतिरेकी या क्षणक्षयी होतीं हैं। प्रत्येक द्रव्य में सहभावी गुण और क्रमभावी पर्यायें होतीं हैं। गुण द्रव्य की शक्तियाँ हैं। 'द्रव्याश्रया निर्गुणा गुणाः' (तत्त्वार्थ सूत्र 5/41)! जो द्रव्य के आश्रय से रहता हुआ भी दूसरे गुण से रहित होता है, उसे गुण कहते हैं। द्रव्य और गुण के मध्य आधार-आधेय सम्बन्ध होता है। गुण दो प्रकार के होते है–सामान्य और विशेष! अस्तित्व, वस्तुत्व, प्रमेयत्व, द्रव्यत्व, प्रदेशत्व और अगुरुलघु ये सामान्य गुण हैं तथा चेतनत्व, रूपादित्व आदि विशेष गुण हैं। द्रव्य के गुणों में परस्पर अविनाभाव सम्बन्ध होता है। इस दृष्टि से, जहाँ एक गुण है वहाँ उस द्रव्य के अन्य गुण भी रहते हैं। इसी प्रकार द्रव्य और गुणों के मध्य नित्य तादात्म्य सम्बन्ध होता है। इस कारण द्रव्य से गुण कभी भिन्न नहीं होते। द्रव्य के सभी गुण स्वतंत्र होते हैं। एक गुण दूसरे गुण में हस्तक्षेप नहीं करता।

द्रव्य की परिणति या कार्य को पर्याय कहते हैं। द्रव्य के गुणों में निरंतर परिवर्तन होता रहता है। इस अवस्था परिवर्तन को ही पर्याय कहते हैं। क्षण-क्षयी पर्यायें तत्काल की योग्यता से होतीं हैं। पर्यायें भी सत् हैं। आचार्य कुन्दकुन्द ने प्रवचनसार में सत् द्रव्य, सत् गुण और सत् पर्याय कहकर सत्ता

गुण का विस्तार किया है (गा. 107)। पर्याय दो प्रकार की होती हैं—व्यंजन पर्याय और अर्थ पर्याय। आकारवान प्रदेशत्व गुण की अपेक्षा द्रव्य की जो परिणति होती है उसे व्यंजन पर्याय कहते हैं। अन्य गुणों की अपेक्षा षड्गुणी हानि-वृद्धि रूप परिणति अर्थ पर्याय है। स्वभाव और विभाव पर्याय रूप से यह दोनों दो-दो प्रकार की होती हैं। स्व निमित्तिक स्वभाव और परनिमित्तिक विभाव पर्याय होती है। जीव और पुद्गल की जो परनिमित्त पर्याय है वह विभाव पर्याय कहलाती है। परनिमित्त दूर होने पर स्वभाव पर्याय होगी। द्रव्य पर्याय से अभिन्न है। इस कारण द्रव्यपर्यायात्मक पदार्थ को सामान्य विशेषात्मक कहा जाता है।

पञ्चास्तिकायाः — अस्तिकाय पांच हैं। जीवादि छः द्रव्यों को प्रदेशों के आधार पर दो भागों में वर्गीकृत किया है—अस्तिकाय और अनस्तिकाय। बहु प्रदेशी द्रव्यों को अस्तिकाय कहते है। वे पांच है—जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म और आकाश अस्तित्व में नियत, अस्तित्व से अनन्यभय और अणुमहान (प्रदेश में बड़े) होने से अस्तिकाय हैं। काल द्रव्य एक प्रदेशी होने के कारण अनस्तिकाय है। अस्ति का अर्थ है सत् और काय का अर्थ 'शरीर' होता है। काल को छोड़कर शेष पाँच द्रव्यों के विविध गुणों और पर्यायों के साथ अपनत्व है अतः वे अस्तिकाय हैं (पंचास्तिकाय संग्रह गा. 4-5)।

जीव द्रव्य अनंत हैं। पुद्गल द्रव्य अनंतानंत हैं, धर्म द्रव्य, अधर्म द्रव्य और आकाश द्रव्य एक-एक है। काल द्रव्य असंख्यात लोक प्रमाण है। इनमें जीव द्रव्य, धर्म द्रव्य और अधर्म द्रव्य असंख्यात प्रदेशी हैं। आकाश द्रव्य अनंत प्रदेशी है, किन्तु लोकाकाश वाला भाग धर्मास्तिकाय के बराबर असंख्यात प्रदेशी है। पुद्गल अणुरूप एक प्रदेशी होकर शक्ति अपेक्षा स्कन्धरूप अनेक प्रदेशी हो जाने के कारण संख्यात, असंख्यात और अनंत प्रदेशी भी होते हैं।

जीव द्रव्य और पुद्गल द्रव्य में स्वभाव (शुद्ध) और विभाव (अशुद्ध) रूप परिणमन की क्रियावती शक्ति है। यह इन दो द्रव्यों के मध्य निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्धों का सूचक है। शेष चार द्रव्य निष्क्रिय-स्थिर हैं। उनका परिणमन निरंतर शुद्ध ही होता है। जीव एक बार शुद्ध होने के बाद फिर कभी अशुद्ध

नहीं होता।

षड् द्रव्यों की अनंत स्वतंत्रता की उद्घोषणा जिनेन्द्र देव के मत में ही सम्मत है। द्रव्य गुण और पर्यायों की कथंचित स्वतंत्रता की स्वीकृति एवं तदनुसार अरहंत भगवान समान अपने स्वरूप की श्रद्धा-अनुभव से मोक्ष मार्ग प्रगट हो जाता है। इससे हृदय में समता भाव की किरणें फूट पडतीं हैं और सभी जीव-अजीव के प्रति वात्सल्यमयी भावना उद्भूत होती हैं जो धार्मिकता, जीवदया और करुणा का स्रोत है। सत् स्वरूप की स्वीकृति-प्रतिष्ठा सत्यधर्म के सौन्दर्य का बोध कराता है। इससे ही मैत्री, प्रमोद, करूणा और माध्यस्थ भाव उद्भूत होता है। सत् शब्द के भावबोध से ही जीवन का रूपांतरण विभाव से स्वभाव की ओर शक्य है। जिनोपादिष्ट छः द्रव्यों के कथन का उद्देश्य निज द्रव्य को जानना है। (नयचक्र 284)

सप्त तत्वानि – तत्व सात हैं। **जीवाजीवास्रवबंधसंवरनिर्जरामोक्षास्तत्त्वम्** (सूत्र 1/4)। जीव, अजीव, आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा और मोक्ष ये सात तत्त्व हैं। सात तत्वों में जीव और अजीव स्वतंत्र द्रव्यरूप धर्मी हैं। इनमें छः द्रव्य समाहित हैं। शेष पांच तत्व अर्थात आस्रव बंध, संवर निर्जरा और मोक्ष ये जीव-अजीव के विभाव-स्वभाव पर्याय रूप धर्म हैं।

तत्व भाव परक संज्ञा है। प्रयोजनभूत अर्थात् शुद्धात्मा के भाव को तत्व कहते हैं। 'तद् भावस्तत्वम्'–आचार्य पूज्यपाद के अनुसार जिस वस्तु का जो भाव है वह तत्व है। भट्टाकलंक देव के अनुसार 'स्व तत्त्वं स्वतत्त्वं, स्वभावोंऽसाधारणो धर्मः'–अपना तत्त्व स्व तत्व होता है, स्वभाव असाधारण धर्म को कहते हैं अर्थात वस्तु के असाधारण रूप स्व तत्त्व को तत्व कहते हैं। तत्व शब्द 'तत्' और 'त्व' के योग से बना है। तत् = 'तह' और त्व = भाव या पना। वस्तु का भाव ही तत्व है जैसे–जल का शीलत्व, अग्नि का अग्नित्व, आत्मा का ज्ञायकत्व ओर पुद्गल का रूपत्व। श्रुत ज्ञान एवं अविपरीत अर्थ के विषय को भी तत्त्व कहा है। आत्म तत्त्व अर्थात् आत्मा का स्वरूप। परमार्थ, तत्व, द्रव्य स्वभाव, परम, परमपरम, ध्येय और शुद्ध ये सब एकार्थवाची हैं।

सात तत्वों में प्रयोजनभूत तत्व शुद्धात्मा रूप जीव तत्व ही है जो उपादेय, भजनीय और भाव करने योग्य है। जीव ही उत्तमगुणों का धाम है, सब द्रव्यों में उत्तम द्रव्य है और सब तत्वों में परम तत्व है, ऐसा निश्चय पूर्वक जानना चाहिये (कार्तिकेयानुप्रेक्षा गा. 204)। निश्च से आत्मा एक, शुद्ध, ज्ञानदर्शन रूप, अरूपी है। अन्य परद्रव्य परमाणु मात्र भी आत्मा का नहीं है (समयसार गाथा 38)। आत्मा का सौन्दर्य उसके ज्ञायक भाव में है क्योंकि वह अप्रमत्त या प्रमत्त रूप न होकर शुद्ध ही है (स. सार. गाथा 6)। जीव के साथ अज्ञान भाव के कारण अनादि काल से पुद्‌गल (अजीव) की पर्याय रूप द्रव्य कर्म और नोकर्मो का सम्बन्ध है। कर्मोदय से आत्मा में क्रोधादि विकारी भावों की उत्पत्ति होती है जो भाव कर्म कहलाते हैं। यह भी पुद्‌गल जन्य होने से जीव के स्वभाव भाव नहीं होते। इस कारण जीव की अशुद्ध परिणति दुःख-आकुलता रूप हो रही है। इस प्रकार द्रव्य कर्म, भाव कर्म और नोकर्म अजीव तत्व में सम्मलित हैं। मन-वचन-काय की शुभ-अशुभ रूप योग क्रिया से आत्म प्रदेशों का स्पन्दन होता है जो कर्मास्रव का कारण है। आचार्य कुन्दकुन्द के अनुसार मिथ्यात्व, अव्रति कषाय और योग से कर्मों का आश्रव होता है। आश्रव अशुचि अशरण और आकुलता रूप है। आत्मा और कर्माश्रव का सम्बन्ध बध्य-घातक जैसा है। आत्मा बध्य है और आश्रवभाव घातक है जैसे वृक्ष-लाख। आस्रव शुभ और अशुभ रूप होता है।

रागादि से कर्म बंध होता है। जो पर द्रव्य को ग्रहण करता है वह अपराधी होता है, इस कारण बंध में पड़ता है। जो आत्मा अपगत राध अर्थात् राध (सिद्धि-आराधना) से रहित है वह आत्मा अपराध है (स. सा. 304)। निरपराध आत्मा निःशंक होता है। सापराध आत्मा अपने को अशुद्ध सेवन करता हुआ निरंतर अनंत कर्मों से बंधता है और निरपराध आत्मा शुद्धात्मा (जो शुद्ध आत्मा है सो ही मैं हूँ ऐसा भागवान् आत्मा) का सेवन करता हुआ बन्धन को कदापि स्पर्श नहीं करता (कलश 187)। कर्म बंध का मुख्य कारण किसी को मारने-जिलाने, दुःखी-सुखी करने रूप मिथ्या अभिप्राय और मोह-राग रूप बुद्धि है। (समयसार गा. 259-261)। बंध तत्व जीव और द्रव्य कर्मों के मध्य एकक्षेत्रावगाह रूप बंध की स्थिति दर्शाता है।

शुद्धात्मा के आश्रय से कर्मागमन निरोध को संवर कहते हैं। आगम की दृष्टि से गुप्ति, समिति, धर्म, अनुप्रेक्षा, परिषहजय, चारित्र और तप से कर्मो का संवर और निर्जरा होती है। अध्यात्म दृष्टि से आत्म स्वभाव एवं क्रोधादि मनोभावों के मध्य आधार-आधेय सम्बन्ध न होने के कारण दोनों अलग-अलग हैं, यह भेद-विज्ञान होते ही शुद्धात्म तत्व की उपलब्धि-अनुभूति होती है और उससे कर्मो का संवर होता है। संवर तत्व धर्माचरण की प्रथम सीढ़ी है। यहीं से जीवन का धर्मरूप रूपांतरण होता है। संवर होने का दार्शनिक सूत्र है—जो अपनी आत्मा को शुद्ध देखता है वह शुद्धात्मा को पाता है और जो अशुद्ध देखता है, वह अशुद्धात्मा को पाता है (स. सार गा. 186)

शुद्धात्मा के आश्रय से कर्मों का एकदेश क्षय होना निर्जरा तत्व है। कर्मों की निर्जरा सम्यग्दृष्टि ज्ञानी जीव की ज्ञान-वैराग्य शक्ति से होती है जिसमें ज्ञानी वैराग्य और ज्ञानपूर्वक कर्मोदय जन्य भोग करता हुआ भी कर्मो से अवद्य रूप रहता है। जिस प्रकार वैध पुरूष जहर को भोगता हुआ भी नहीं मरता और अरतिभाव से मद्यपान करता हुआ भी जीव उन्मुक्त नहीं होता उसी प्रकार ज्ञान-वैराग्य पूर्वक ज्ञानी विषयों का सेवन करता हुआ भी कर्मो से नहीं बंधता (स. सार 195-196)। वह तो अपने को 'एक ज्ञायक भाव हूँ' ऐसा मानता है और कर्मोदय एवं राग को कर्म का विपाक मानकर छोड़ता है (गा. 198-199)।

वर्तमान मेंआत्मा विभाव रूप अपद में स्थित है। आचार्य कुन्दकुन्द कहते हैं कि ज्ञान गुण के बिना अन्य किसी क्रियाकांड से मोक्ष की प्राप्ति नहीं होती, अतः नियत ज्ञान को ग्रहण कर (गा. 205)। तू उस ज्ञान में नित्यरति-प्रतिवाला हो, उसमें नित्य संतुष्ट हो और उससे तृप्त हो तभी तुझे उत्तम सुख मिलेगा (गा. 206)। आचार्य कुन्दकुन्द कहते हैं कि ज्ञानी का परिग्रह ज्ञान ही है। ज्ञानी अनिच्छुक होने से अपरिग्रही होता है। उसे धर्मरूप पुण्य, अधर्मरूप पाप, भोजन, पेय आदि अनेक प्रकार के सर्व भावों की इच्छा रूप परिग्रह नहीं होता (स. सार गा. 207-214)। वेध-वेदक भाव के अभाव के कारण उसे भोगाकांक्षा भी नहीं होती और कर्मोदय जन्य पर-के-अपराध के कारण उसे बंध भी नहीं

होता (समयसार कलश 150)। इस प्रकार ज्ञानी आत्म जागरूकता पूर्वक शुद्धात्मा का आश्रय करता हुआ कर्मो की एकदेश निर्जरा करता है। भोग के प्रति आंकाक्षा-राग और वियोग बुद्धि पूर्वक भोग के मध्य सूक्ष्म भेद-रेखा तत्वज्ञानी आत्मानुभवी आत्मा ही खींच सकती है। ज्ञानी-अज्ञानी की बाह्य प्रवृत्ति एक जैसी दिखाई देते हुए अभिप्राय में आकाश-पाताल जैसा अंतर होता है।

सातवां महत्वपूर्ण तत्व मोक्ष तत्व है। **बंधहेत्वाभावनिर्जराभ्यां कृत्स्नकर्मविप्रमोक्षो मोक्षः** (सूत्र 10/2)। बंध के हेतुओं का अभाव संवर और निर्जरा द्वारा सम्पूर्ण कर्मो का क्षय हो जाना मोक्ष है। अध्यात्म दृष्टि से जीव स्वयं बंध के स्वभाव और आत्मा के स्वभाव को जानकर रागदिक बंधों के प्रति विरक्त होता है, तभी कर्मों से मुक्त होता है (स. सार गा. 293)। आत्मा और रागादिक भाव चेत्य-चेतक भाव के कारण एक जैसे दिखाई देते हैं। ज्ञानी प्रज्ञा छैनी से दोनों को पृथक कर शुद्धात्मा को ग्रहण करता है और शेष विभाव भावों को छोड़ता है। इस प्रकार आत्मा ही आत्मा द्वारा, आत्मा के लिए, आत्मा में से, आत्मा में आत्मा को ग्रहण करता है। इस कारण आत्मा स्वयंभू है।

सात तत्वों में जीव उपादेय, अजीव ज्ञेय, आश्रव-बंध हेय, संवर निर्जरा एकदेश उपादेय और मोक्ष सर्वकर्म के अभाव रूप परम उपादेय है। यह तत्व जैन धर्म/दर्शन में वर्णित आत्मा की अशुद्धता से शुद्ध होने की प्रक्रिया के मील-पत्थर रूप दिशा-बोधक एवं प्राण रूप हैं।

नव पदार्थाः – पदार्थ नौ हैं। उक्त सात तत्वों में पुण्य और पाप सम्मलित कर देने से सात तत्व नौ पदार्थ हो जाते हैं। यद्यपि पुण्य-पाप भाव आस्रव तत्व में सम्मलित हैं, फिर भी स्वर्ण और लोहे की बेडियों में स्वर्णत्व के प्रति बहुभाव न हो जावें, अतः आचार्यों ने दोनो (पुण्य-पाप) को कुशील रूप शुभ-अशुभ कर्मबंध का कारण माना है (स. सा. गा. 146)। और उनसे राग या संसर्ग न करने हेतु उपदेश दिया है। पुण्य-पाप भाव जीव के अशुद्ध परिणाम हैं जो शुद्ध परिणामों के बाधक-विरोधी हैं। शुद्ध भाव बिना मुक्ति नहीं और अशुद्ध भाव बिना कर्म बंध नहीं। अतः दृष्टि में दोनों भाव हेय हैं। यद्यपि मोक्ष-मार्ग में जिनेन्द्र देव की पूजा-भक्ति आदि के प्रशस्त राग रूप विशुद्ध परिणामों का

अपना स्थान है जो उपेक्षणीय नहीं है। जीव के विशुद्ध परिणामों से पुण्य बंध और संक्लेष परिणामों से पाप-बंध होता है। शुद्ध भाव अबंधरूप है।

आचार्य अमृतचन्द्र ने समयसार की टीका में 'जीवो नाम पदार्थः स समयः' अर्थात् ऐसा जीव नामक पदार्थ समय है कहा है। इस प्रकार समय में सभी पदार्थ आ जाते हैं जो द्रव्य रूप हैं। 'अथोऽभिधेयः पद स्यार्थः पदार्थः' – अर्थात् अर्थ (अभिधेय) और पद से पदार्थ बना है। संसार में जितने भी पदार्थ हैं वे किसी-न-किसी पद-शब्द के वाच्य अर्थ अवश्य हैं। इस दृष्टि से पदार्थ दो प्रकार का भी है–शब्द ब्रह्म और अर्थ ब्रह्म। न्याय सूत्र के अनुसार व्यक्ति, आकृति और जाति से सब मिलकर पद का अर्थ अर्थात् पदार्थ होते हैं (न्याय दर्शन सूत्र 2/2/63/142)। पदार्थ शब्दार्थ की प्रधान दृष्टि से पदार्थ कहलाते हैं।

मोक्ष मार्ग में पदार्थों के यथार्थ ज्ञान की उपयोगिता :– नव पदार्थो के बीच छिपी हुई ज्ञान ज्योति पदार्थों के यथार्थ ज्ञान से ही प्रकाशमान होती है। नव तत्त्वों/पदार्थो में एकमात्र शुद्ध जीव तत्त्व ही प्रकाशमान है। जब वह शुद्ध जीवास्तिकाय ज्ञान का ज्ञेय, श्रद्धान का श्रद्धेय और ध्यान का ध्येय बनता है अर्थात् आत्मा का अनुभव होता है, आत्मानुभूति होती है तब सभी द्वैत का अभाव होकर एक आत्मा ही प्रकाशमान होता है। इस सम्बन्ध में समयसार की गाथा 13 मननीय है–

भूदत्थेणाभिगदा जीवाजीवा य पुण्ण पांव च
आसव संवर णिज्जर बंधो मोक्खो य सम्मत्तं (स. सार. 13)

भूतार्थ से जाने हुए जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आश्रय संवर निर्जरा बंध और मोक्ष– ये नव तत्व ही सम्यग्दर्शन हैं।

आचार्य कुन्दकुन्द ने समयसार की ग्यारहवीं गाथा में शुद्ध नय को भूतार्थ और व्यवहारनय को अभूतार्थ कहा है। जो जीव भूतार्थ का आश्रय लेता है वह जीव निश्चय से सम्यग्दृष्टि होता है। नय व प्रमाण के विकल्प पूर्वक जीवादि पदार्थों का यथार्थ ज्ञान सम्यग्ज्ञान है (स. वा. 1/1/2/4/3)।

ज्ञान-ध्यान की साधना का स्वरूप और महत्व :– जैन धर्म ज्ञानात्मक और भावात्मक हैं। इसके बाद क्रिया रूप चारित्र का स्थान है। आत्मानुभव के साथ जुड़ा ज्ञान सम्यग्दर्शन के साथ ही सम्यग्ज्ञान नाम पा जाता है। मुनि शिवभूति मंदबुद्धि के थे फिर भी त्रिकर्म रहित शुद्धात्मा का अनुभव होते ही वे सम्यग्ज्ञान और ध्यान की आराधना करते हुए उसी भव से मुक्त हो सिद्धपरमेष्ठी हो गये।

सर्वज्ञ देव ने आत्मा को ज्ञानस्वरूप बताया है, वह स्वयं ज्ञान ही है, वह ज्ञान के अतिरिक्त अन्य क्या करे? आत्मा पर भाव का कर्ता है ऐसा मानना व्यवहारी जीवों का मोह (अज्ञान है)। आचार्य अमृत चन्द्रदेव के शब्दों में–

आत्मा ज्ञानं स्वयं ज्ञानं ज्ञानादन्यत्कोति किम।
पर भावस्य कर्तात्मा मोहोऽयं व्यवहारिणाम।। (स. सार. कलश 62)

महाकवि श्रीमद् भोज ने द्रव्यानुयोग तर्कणा में ज्ञान की महत्ता निम्न रूप दर्शायी है–

ज्ञानं निधानं परमं प्रधानं ज्ञानं समानं न बहुक्रियाभिः
ज्ञानं महानन्दरसं रहस्यं ज्ञानं परं ब्रह्म जयत्यनन्तम् (द्रव्या. 15/9)

'ज्ञान सर्वोत्तम निधि है, ज्ञान सब में प्रधान है, ज्ञान समान कोई क्रिया नही है, ज्ञान महासुख देने वाला रस है, ज्ञान ही परम ब्रह्म का रहस्य है और अंत रहित है। ऐसा ज्ञान सर्वोत्कर्षता करके वर्तता है।' ज्ञानरहित बाह्य क्रिया जिनमत में निंदित है। आचार्य कुन्दकुन्द के अनुसार पदार्थ सम्बन्धी अतीन्द्रिय ज्ञान सुख रूप होता है इसलिये वह उपादेय है। पुनश्च, केवलज्ञान सुख स्वरूप है (प्रवचनसार गाथा 53 एवं 61)।

जो जानता है सो ज्ञान है अर्थात् जो ज्ञायक है वही ज्ञान है। आत्मा स्वयं ही ज्ञान रूप परिणमित होता है और सर्व पदार्थ ज्ञानस्थित हैं। इसलिये जीवज्ञान है और त्रिकालवर्ती द्रव्य ज्ञेय हैं। ज्ञान स्वपर ज्ञायक है, यह ज्ञेय की द्विविधता है। (स. सार गाथा 35-36)। आत्मज्ञान युक्त ज्ञान तो सम्यग्ज्ञान है ही, 'श्रुतं हि तावत्सूत्रम्' के अनुसार श्रुत ही सूत्र है। उस शब्द ब्रह्म रूप सूत्र की ज्ञप्ति सो ज्ञान है। श्रुत उसका कारण होने से ज्ञान के रूप में उपचार से

ही कहा जाता है। इसी दृष्टि से आचार्य कुन्दकुन्द देव समयसार की अंतिम गाथा (415) में घोषित करते हैं कि 'जो आत्मा इस समयसार को पढ़कर अर्थ और तत्त्व को जानकर उसके अर्थ में स्थित होगा, वह उत्तम सौख्य रूप होगा।

स्वाध्याय एवं ध्यान तप – ज्ञान का आधार स्वाध्याय है। स्व + अधि + आय = स्वाध्याय अर्थात निज का ज्ञान होना। 'स्वाध्यायः परमं तपः' – स्वाध्याय को परम तप कहा है। सत् साहित्य का पढ़ना-अध्ययन-करना, पूछना (तत्वचर्चा), चिंतन-मनन-अनुप्रेक्षा आम्नाम-बारम्बार स्मरण करना और धर्मोपदेश देना आदि स्वाध्याय के ही अंग हैं। एकाग्रचित्त से णमोकार मंत्र का जाप एवं शास्त्र स्वाध्याय यह परम तप है (तत्वानु. 40)।

'कर्मक्षयार्थं तप्यते इति तपः' कर्म क्षय हेतु जो तपा जाता है, वह तप है। आगमिक दृष्टि से छः बाह्य तप और छः अभ्यंतर तप होते हैं, अध्यात्म दृष्टि से शुद्धोपयोग ही परम तप है। अभ्यंतर तप में स्वाध्याय और ध्यान तप महत्वपूर्ण हैं। स्वाध्याय और ध्यान एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। ज्ञान व्यग्र होता है और ध्यान एकाग्र। आचार्य अमितगति के अनुसार-ध्यानं विनिर्मल ज्ञान पुसां संपद्यते स्थिरम–अर्थात जब निर्मलज्ञान स्थिर हो जाता हो तब वह ध्यान हो जाता है (योगसार प्रा. 9/15)। 'एकाग्रचिंतानिरोधोध्यानम्'–एक पदार्थ को जानते हुए चिंतवन रूक जाना (ज्ञान में ठहर जाना) ही ध्यान है। आचार्य रामसिंह के अनुसार स्थिर मन और स्थिर तात्विक श्रुत ज्ञान का नाम भी ध्यान है (तत्त्वानु. 68)। दोहा पाहुड का यह कथन भी महत्वपूर्ण है–जिस प्रकार नमक जल में विलीन हो जाता है उसी प्रकार चित्त शुद्धात्मा में विलीन हो जाये तब जीव समरस रूप समाधिमय हो जाता है (गा. 207)।

चार प्रकार के ध्यानों में आर्त्त और रौद्र ध्यान अशुभोपयोगी हैं जबकि धर्म ध्यान मुख्यतः शुभोपयोगी है और गौण रूप से शुद्धोपयोगी है। शुक्ल ध्यान के प्रथम दो ध्यान अर्थात पृथक्त्ववितर्क वीचार और एकत्व वितर्क अवीचार श्रुत ज्ञान के विषय के सम्बन्ध में श्रुत के आश्रय से होते हैं जिससे चार घातिया कर्म नष्ट होते हैं। अंत के दो ध्यान अर्थात् सूक्ष्मक्रिया प्रतिपाती और व्युपरतक्रिया निवर्ति, जिनेन्द्र देव के सब प्रकार के अवलम्बन से रहित हैं।

इन चार शुक्लध्यानों में प्रथम ध्यान मन, वचन और काय इन तीन योग वालों के, दूसरा ध्यान तीन योगों में किसी एक योग वाले के, तीसरा ध्यान काय योग वाले के और चौथा ध्यान योग से रहित अयोग केवली के होता है। इस सम्बन्ध में यह उल्लेखनीय है कि रागादि परिग्रह से रहित मुनि शुक्ल ध्यान द्वारा अनेक भवों के संचित कर्मों को शीघ्र जला देता है। आचार्य कुन्दकुन्द के अनुसार 'जो कर्म अज्ञानी लक्ष कोटि भवों में खपाता है, वह कर्म ज्ञानी तीन प्रकार से गुप्त (त्रिगुप्ति) होने से उच्छवास मात्र में खपा देता है (प्र. सार 238)।' इससे शुद्धात्मानुभाव और शुद्धोपयोग की महिमा स्वयं सिद्ध होती है।

स्वाध्याय और समाधिमरण – जीवन की सफलता समाधिमरण पूर्वक देह त्याग में है। इसे सल्लेखना भी कहते हैं। सल्लेखना - सत् लेखन अर्थात् काया (शरीर) एवं मनोविकारों रूप कषायों को सम्यक् रूप से कृश (क्षीण) करने को कहते हैं। यह दो मुखी कार्य करती है। बाह्य रूप से शरीर को कृश करती है और अभ्यंतर रूप से कषायों को कृश कर अकर्त्ता-अभोक्ता रूप आत्मा को उसके ज्ञायक/समता भाव में स्थापित करती है। सल्लेखना जीवन भर की आत्म साधना का सुफल है इसके लिये निरंतर शास्त्रों का अभ्यास करना चाहिये। भगवती आराधना की निम्न गाथा मननीय है–

आदहिदपइण्णा भाव संवरो णवणवो न संवेगो।
णिक्कंपदातवो भावणा य परदेसिगत्तं च ।। 100।।

अर्थ– (1) जिनागम का अभ्यास करने वाले के आत्महित का ज्ञान होता है, (2) पाप कर्मों का संवर होता है, (3) नवीन-नवीन संवेग भाव उत्पन्न होता है, (4) मोक्षमार्ग में स्थिरता आती है, (5) तपस्या में वृद्धि होती है, (6) गुप्ति पालन में तत्परता आती है, (7) इतर भव्य जीवों को उपदेश करने की सामर्थ्य उत्पन्न होती है। यह सात गुण जिनागम के स्वाध्याय करने वाले आत्मा में प्रकट होते हैं। इसका फल समाधिमरण/सल्लेखना पूर्वक देह त्यागकर उत्तम गति प्राप्त करना है।

निष्पत्ति – स्वाध्याय-श्रुताभ्यास द्वारा शुद्धोपयोग में प्रवृत्ति सहज होती है। इस रहस्य का उद्घाटन पं. प्रवर आशाधर जी ने अध्यात्म रहस्य श्लोक 55 में

इस प्रकार किया है—मैं श्रुताभ्यास के द्वारा शुभ उपयोग का आश्रय करता हुआ, शुद्ध उपयोग में ही अधिकाधिक स्थिर रहूँ यही मेरी श्रेष्ठ-निष्ठा श्रद्धा है। इस प्रकार अशुभोपयोग से निवृत्ति (त्याग) शास्त्राभ्यास द्वारा शुभोपयोग का आश्रय लेते हुए शुद्धोपयोग में प्रवृत्ति का क्रम निर्देश स्पष्ट है।

उक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि पदार्थों के यथार्थ ज्ञानपूर्वक शुद्धात्मा के श्रद्धान-ज्ञान एवं आचरण से अनादि कर्म बंध से मुक्त होकर आत्मा स्वतंत्र होता है।

संदर्भ ग्रंथ सूची

1. तत्वार्थ वार्तिकम् (राजवर्तिकम) : भट्ट अकलंकदेव, दुलीचंद वाकलीवाल, यूनिवर्सल एजेन्सीज देरगांव (आश्राम) वर्ष-1987
2. षट्खंडागम, जीवस्थान-सत प्ररूपणा? खण्ड-1, भाग-1, पुस्तक-1 आचार्य वीरसेन जैन संस्कृति संरक्षक संघ, सोलापुर-2, वर्ष-1973।
3. अष्टपाहुड-दर्शन-पाहुड : आचार्य कुन्दकुन्द, श्रीकुन्दकुन्द कहान दि. जैन तीर्थ सुरक्षा ट्रस्ट, ए-4, बापूनगर, जयपुर वर्ष-1994
4. प्रवचन सार : आचार्य कुन्दकुन्द, प्रकाशक उक्तानुसार, वर्ष 1985।
5. समयसार : आचार्य कुन्दकुन्द, प्रकाशक उक्तानुसार, वर्ष 1995।
6. पंचास्किाय : आचार्या कुन्दकुन्द, प्रकाशक उक्तानुसार, वर्ष-1990।
7. छहढला : पं. दौलतराम जी, कुन्दकुन्द भारती, नई दिल्ली वर्ष-1994।
8. कार्तिकेयानुप्रेक्षाः स्वामी कार्तिकेय, श्री दि. जैन धर्म शिक्षण संयोजन समिति, मल्हार गंज इन्दौर, वर्ष-1994।
9. सवार्थसिद्धिः – आचार्य पूज्यपाद, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन वर्ष-1989।
10. तिलोयपण्णत्ति भाग-3, सिद्धलोक, यतिवृषभाचार्यः श्री 1008 चन्द्रप्रभ दि. जैन अतिशय क्षेत्र देहरा-तिजारा, वर्ष-1997।
11. जैनतत्व विद्याः मुनिप्रमाण सागर जी, (आचार्य गाद्यवदि योगीन्द्र विरचित शास्त्रसार समुच्चय) भारतीय ज्ञानपीठ वर्ष-2000
12. तत्वानुशासन – श्रीनागसेन मुनिः भारतवर्षीय अनेकान्त विद्वत् परिषद वर्ष-1993
13. योगसार प्राभृतः आचार्य योगीदुदेवः श्री दि. जैन मुमुक्षु मण्डल स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट सिवनी,

वर्ष-1989।

14. द्रव्यानुयोगतर्कणाः श्री मद् भोज कवि विरचित श्री परमश्रुत प्रभावक मंडल, श्रीमद् राजचन्द्र आश्रम अगास : वर्ष -1977।

15. अध्यात्म-रहस्यः पं. आशाधर जी, वीर सेवा मंदिर, 21 दरियागंज, नई दिल्ली वर्ष-1957।

16. दोहा पाहुडः मुनि रामसिंह, भारतीय ज्ञानपीठ दिल्ली, वर्ष-1998।

17. नय चक्र बृहतः आचार्य देवसेन : माणिक ग्रंथमाला बम्बई सन-1920 (वि. सं. 1977)।

18. जैनेन्द्र सिद्धान्त कोष भा-1-4, क्षुल्लक जेनेन्द्र वर्णी, भारतीय ज्ञानपीठ वाराणसी सन्-1971 (वि. सं. 2028)

19. न्यायदर्शन सूत्र : मुजफ्फरनगर सन-1934 (जै. सि. कोष भाग-3, पृष्ठ 8 से उद्धृत)।

20. समयसार कलश टीका : आचार्य अमृतचन्द : श्रीवीतराग सत् साहित्य प्रसारक ट्रस्ट, भावनगर वीर सं. 2503।

21. मोक्ष शास्त्र (तत्त्वार्थ सूत्र) ' श्री उमा स्वामी : भारतवर्षीय अनेकान्त विद्वत् परिषद्।

22. अष्टपाहुडः अध्यन – डॉ. राजेन्द्रकुमार बंसल, बाहुबली प्रकाशन, लालकोठी, जयपुर, सन्-1993।

23. *भगवती आराधना गाथा 100, (संयम प्रकाश पूर्वाद्ध-द्वितीय भाग पृष्ठ 766 से उद्धृत)।*

– बी-369 ओ. पी. एम. कॉलोनी,
अमलाई (म. प्र.)-484117

प्राचीन भारत में राजकीय विभाग

—डॉ. मुकेश बंसल

जिस प्रकार शरीर में स्थित ज्ञान-केन्द्र को मस्तिष्क के आदेशों को पूरा करने के लिए शरीर के विभिन्न अंगों और इन्द्रियों की आवश्यकता होती है, उसी प्रकार राजा को राजकीय कार्यो के सम्पादन-हेतु शासन-कार्यालय एवं विभिन्न शासकीय विभागों की आवश्यकता होती है। प्राचीन भारतीय राज्यानुशासन के सिद्धानतों से ज्ञात होता है कि कल्याणकारी आदेशों का सामान्य लोक में पालन करना और प्रजा-हित-साधन करना ही राजा का सर्वप्रमुख कर्त्तव्य था, जिसके अभाव में लोक की स्थिति और सुख असम्भव था। प्रजानुरंजन और लोकल्याण में तत्पर राजा को राज्य की सुदृढ़ शासन-व्यवस्था बनाए रखने के लिए विभिन्न राजकीय विभागों और उनमें नियुक्त पदाधिकारियों की आवश्यकता पड़ती थी। इन राजकीय विभागों एवं उनमें नियुक्त पदाधिकारियों को राजा के द्वारा ही प्रायः समस्त अधिकार प्रदान किये जाते थे। समस्त विभागों का अपना-अपना कार्य-क्षेत्र निश्चित था। उस विभाग का अध्यक्ष स्वतंत्र रूप से अपने क्षेत्राधिकार का प्रयोग करता था, किन्तु वह किसी भी दशा में निरकुंश न हो पाए इसलिए प्रत्येक स्थिति में अंतिम निर्णय राजा का ही होता था। प्राचीन भारतीय साहित्य में शासन को सुव्यवस्थित एवं दृढ़तापूर्वक चलाने हेतु राजा द्वारा जिन विभिन्न राजकीय विभागों की स्थापना के उल्लेख प्राप्त होते हैं, उन्हें 'तीर्थ' कहा गया है।

विभिन्न कालों में विभिन्न विभाग, उनके पदाधिकारी एवं कार्यपालक रहे हैं। वैदिक काल में राजसूय यज्ञ के सम्पादन में कुछ ऐसी आहुतियों का उल्लेख प्राप्त होता है जो 'रत्निनां हविषि'[1] कही जाती थी। यद्यपि उनके नामों एवं क्रमों में कालान्तर में कुछ हेर-फेर हो गया था, किन्तु फिर भी बहुधा वे सभी ग्रन्थों में उसी रूप में पायी जाती हैं। प्राचीन वैदिक साहित्य में राजा के

अतिरिक्त ग्यारह रत्नियों का उल्लेख प्राप्त होता है, जिन्हें राज्यों का दाता कहा गया है—एते वै राष्ट्रस्य प्रदातारः।[1क] कालान्तर में इन वैदिक कालीन रत्नियों को 'तीर्थ' नाम से पुकारा जाने लगा और जिनकी संख्या अठारह हो गयी थी। रामायण तथा महाभारत महाकाव्यों में इन तीर्थों की संख्या अठारह बतायी गयी है।[2] रघुवंश, शिशुपालवध आदि महाकाव्यों, पंचतन्त्र आदि नीतिकथाओं एवं अर्थशास्त्र आदि से भी अठारह तीर्थों के अस्तित्व की जानकारी प्राप्त होती है।[3] वस्तुतः आरम्भिक कालावधियों एवं अपेक्षाकृत छोटे राज्यों में इन प्राशासनिक विभागों की संख्या बहुत कम थी। विष्णुस्मृति एवं राजतरंगिणी में क्रमशः चार और सात विभागों का उल्लेख आया है।[4] यहाँ एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न विचारणीय है कि 'तीर्थ' शब्द शासकीय विभागों के लिए प्रयुक्त किया गया है अथवा विभागाध्यक्षों के लिए? सामान्यतः डा. जायसवाल, राधाकुमुद मुखर्जी आदि कुछ इतिहासकारों का मानना है कि प्राचीन भारतीय साहित्य में 'तीर्थ' शब्द विभागों के अध्यक्षों अथवा विशिष्ट कार्याधिकारियों के लिए प्रयुक्त हुआ है न कि विभागों के लिए।[5] किन्तु राजतरंगिणी में स्पष्ट कहा गया है कि प्राचीन काल में केवल सात कर्मस्थान (विभाग) थे जो कालान्तर में अठारह हो गये तथा आगे चलकर उनमें पाँच कर्मस्थान और जोड़ दिये गये यथा-महाप्रतिहार, महासन्धिविग्रह, महाश्वशाल, महाभाण्डागार और महासाधनमात्र। इन विभागों के अधिकारियों को 'अभिगतपंचमहा' शब्द से अभिहित किया गया।[6]

स्पष्ट है कि प्राचीन भारतीय राज्यानुशासन के अन्तर्गत 'तीर्थ' शब्द शासकीय विभागों के लिए प्रयुक्त किया गया तथा विभागों के नाम के साथ 'महा' शब्द जोड़कर विभागाध्यक्ष को सम्बोधित किया गया। उदाहरणार्थ सम्राट् अशोक के अभिलेखों में विभाग के उच्चाधिकारियों को महामात्र, धर्ममहामात्र तथा अन्य पदाधिकारियों को युक्त, राजुक प्रादेशिक आदि कहा गया है।[7] निःसन्देह तीर्थ शब्द प्रशासकीय विभागों के लिए प्रयुक्त किया गया न कि विभागाध्यक्षों के लिए।

राज्य के कार्यो का अठारह तीर्थों के अन्तर्गत परम्परागत विभाजन का

कारण सम्भवतया यह था कि राज्य के प्रायः सभी कार्य इन विभागों के अन्तर्गत समाविष्ट हो जाते थे और जो राज्य की सभी आवश्यकताओं की पूर्ति करते थे।[8] कौटिल्य ने भी अर्थशास्त्र में अठारह तीर्थों के अतिरिक्त 28 अध्यक्षों के नाम दिये हैं और उनके कार्यो का पृथक् से विस्तृत विवेचन प्रस्तुत किया है। अर्थशास्त्र के प्रथम खण्ड के दूसरे अधिकरण का शीर्षक ही 'अध्यक्ष-प्रचार' के नाम से अभिहित है, जिसमें विभिन्न विभाग और उसके मुख्याधिकारियों तथा अधीक्षकों को पृथक्-पृथक् नाम दिये गये हैं। रघुवंश में कालिदास द्वारा तीर्थो का इसी अर्थ में प्रयोग किया गया है।[9] कौटिल्य के 'अध्यक्ष-प्रचार' नामक अधिकरण के आधार पर ही प्राचीन भारतीय अभिलेखों में भी विभिन्न अधिकारियों की नियुक्तियों का उल्लेख प्राप्त होता है। उदाहरणार्थ भोजवर्मदेव के बेलवा-दानपत्र एवं विजयसेन के बैरकपुर-दानपत्र में उल्लेख आया है—'अन्यांश्च सकलराजपदोपजीविनोऽध्यक्ष-प्रचारोक्तान् इहाकीर्तितान् चट्टभटजातीयान् जनपदान् क्षेत्रकरांश्च।'[10]

सुव्यवस्थित-शासन-संचालन हेतु सपरिषद राजा को 'केन्द्रीय सचिवालय' और उनमें कार्यरत कार्यालयाध्यक्षों की अत्यधिक आवश्यकता पड़ती थी। वैदिक काल में लेखन-कला के आविष्कार के अभाव में शासन-कार्यालय के विकास की आशा करना उचित नहीं है, सम्भवतः इस काल में राजा के आदेश मौखिक रूप से अथवा संदेशवाहकों के द्वारा ही घोषित किये जाते थे। कालान्तर में लेखन-कला के विकास तथा शासन-कार्यो के अभिलेखों के रखरखाव के लिए निश्चित रूप से एक कार्यालय की आवश्यकता हुई। मौर्यकाल तक आते-आते शासन-व्यवस्था पूर्णतः संघटित और व्यापक हो चुकी थी। विविध बड़े-बड़े विभाग अर्थात् तीर्थ स्थापित किये जा चुके थे। शासन की श्रेष्ठता बहुत कुछ केन्द्रीय शासन-कार्यालय पर निर्भर मानी जाने लगी थी। कौटिल्य ने कहा है 'शासने शासनमित्याचक्षते'[11] अर्थात् शासन (सरकारी आदेश) ही सरकार है। शुक्र के अनुसार राजसत्ता राजा के शरीर में नहीं, उसके हस्ताक्षरित और मुद्रांकित शासन में रहती है।[12] मौर्यकाल में केन्द्रीत सचिवालय का प्रधान अधिकारी अक्षपटल नाम से जाना जाता था। गहडवाल और चालक्य राज्य में सरकारी लेखों के प्रधान निरीक्षक जो कभी-कभी

ताम्रपत्र लिखने का कार्य भी करता था, को अक्षपटलिक अथवा महाक्षपटलिक कहा गया है। सचिवालय में कार्य करने वाले छोटे कर्मचारियों को युक्त कहा गया है और उच्च पदाधिकारियों को उपयुक्त नाम दिया है। अशोककालीन कार्यालयों में काम करने वाले छोटे अधिकारियों अथवा क्लर्कों को युक्त कहा गया है, जो महामात्रों और रज्जुकों के नीचे कार्य करते थे। इनके अतिरिक्त एक मुद्राध्यक्ष नाम का अधिकारी होता था जो सरकारी कागजों के रखरखाव और राजकीय मोहर का संरक्षक होता था।[13] राजतरंगिणी में केन्द्रीय शासनालय के कर्मचारियों द्वारा राजाओं के आदेश लेखबद्ध किये जाने की जानकारी के साथ चाहमान और चालुक्य शासन में सचिवालय का उल्लेख प्राप्त होता है जिसे 'श्रीकरण' कहा जाता था।[14]

प्राचीन भारत में अधिकांशतः नृपतन्त्र शासन-व्यवस्था ही प्रचलित थी, जिस कारण राजमहल अथवा राज-प्रासाद का अत्यधिक महत्त्व था अतः उसकी व्यवस्था के लिए एक पृथक् विभाग अनिवार्य था। प्राचीन भारतीय साहित्य में राजप्रसाद सम्बन्धी विस्तृत विवरण प्राप्त होते हैं। दृश्यकाव्यों में राजप्रसाद के लिए नृपभवन, नृपगृह, राजकुल आदि अभिधानों का प्रयोग किया गया है।[15] सामान्य गृहों और सार्वजनिक भवनों की तुलना में राजप्रासादों की एक निराली ही शान होती थी जिसकी व्यवस्था और रखरखाव के लिए राजसेवकों का बड़ा वर्ग एक अलग ही विभाग के आधीन कार्यरत रहता था। राजमहल और उसके सम्पूर्ण अहाते की देखरेख के लिए अत्यन्त विश्वासपात्र अधिकारी की नियुक्ति का उल्लेख मिलता है, जिसे 'सौधगेहाधिप' नाम से जाना जाता था।[16] बंगाल में इस अधिकारी को 'आवसथिक' कहा जाता था।[17] राजप्रसाद के दो प्रमुख विभाग होते थे एक अन्तर्भाग और दूसरा बहिर्भाग। अन्तर्भाग में अन्तःपुर या राजकीय कार्य होता था और बहिर्भाग में राजकीय गृह और सभा-भवन आदि होते थे। राजप्रसाद और उसके शिविर में आवागमन का नियन्त्रण 'द्वारपाल' नामक अधिकारी द्वारा किया जाता था। किसी भी प्रकार से प्रासाद में प्रवेश के लिए सर्वप्रथम द्वारपाल से ही अनुमति प्राप्त करनी होती थी और इसके लिए प्रवेशपत्र प्राप्त करना होता था, जिस पर मुद्राधिप नामक अधिकारी की मोहर आवश्यक थी।

आगन्तुक प्रतिहार या महाप्रतिहार नामक अधिकारी की उपस्थिति में ही राजा से मिल सकते थे। राजप्रसाद में राजा की रक्षा के लिए अंगरक्षक दल नियुक्त रहता था, जिसे शिरोरक्षक नाम से अभिहित किया गया है। पाणिनि ने इन अंगरक्षकों को 'राजप्रत्येनाः' कहा है, जिससे पुलिस अधिकारी का बोध होता है।[18] कौटिल्य ने अंगरक्षकों को आत्मरक्षित नाम दिया है।[19] राजप्रसाद तथा राजा की रक्षा करने वाले इन अधिकारियों के अतिरिक्त राजा का अभिवादन करनेवाले राज्याधिकारी भी होते थे,[20] जिन्हें अधोनिर्दिष्ट पाँच कोटियों में विभक्त किया जा सकता है–

1. स्वागतिक (राजा को देखते ही स्वागत का उद्घोष करनेवाले)।
2. सौवस्तिक (राजा के प्रति स्वस्तिवाचन करनेवाले)।
3. सौखशयनिक (राजा से सुखपूर्वक निद्रा के विषय में पूछनेवाले)।
4. सौखरात्रिक (राजा से सुखद और शान्त रात्रि के विषय में पूछनेवाले)।
5. सौस्नातिक (स्नानोपरांत अभिवादन करनेवाले)।

चालुक्य काल में अंगरक्षकों के नायक को अंगनिगूहक कहा गया है। राजप्रासाद की व्यवस्था में अधिकारियों और सेवकों का एक विशाल वृन्द एक पृथक् विभाग के अधीन दिन-रात कार्यरत रहता था। राजप्रसाद की पाकशाला पाकाधिप नामक अधिकारी की देखरेख में रहती थी। अन्तःपुर का प्रबन्ध कंचुकी नामक अधिकारी के नियंत्रण में होता था जो एक वृद्ध तथा राजा का सबसे अधिक विश्वासपात्र अधिकारी होता था।[21] कंचुकी के अतिरिक्त किरात, कुब्ज, परिचारिका आदि विभिन्न सेवक-सेविकाएँ-राजप्रासाद विभाग के अधीन कार्यरत रहती थी।[22] राजा एवं राजपरिवार की चिकित्सा आदि के लिए राजवैद्य की नियुक्ति का भी विवरण प्राप्त होता है, जिसे 'आरामाधिप' कहा गया है।[23]

प्राचीन भारतीय राज्यानुशासन में सैन्य-विभाग निःसन्देह सबसे महत्त्वपूर्ण था। शत्रुओं से राज्य की रक्षा हेतु राजाओं के पास अक्षौहिणी सेनाएँ होती थीं। जिनकी व्यवस्था के लिए एक पृथक् सैन्य-विभाग का गठन किया जाता था। प्राचीन भारत में चतुरंगिणी सेनाओं में परम्परागत चार विभाग–गज,

अश्व, रथ और पैदल होते थे और उनके रखरखाव के निमित्त लेखा तथा रसद आपूर्ति के कार्य में संलग्न नागरिक कर्मचारियों का एक बड़ा वर्ग कार्यरत रहता था। सेना-विभाग का सर्वोच्च पदाधिकारी सेनापति होता था, जिसे 'बलाध्यक्ष' कहा गया है।[24] अर्थशास्त्र में सेनापति का स्थान राज्य के अठारह तीर्थाधिकारियों में तीसरा माना गया है और सम्भवतः यह पद सेनामंत्री का था। रामायण महाभारत काल में सेनापति, युद्ध-क्षेत्रों में सेनानायक और शान्ति-समय में मंत्रिपरिषद् का सदस्य होता था। किन्तु बाद के काल में आते-आते सेनापति का कार्य केवल सेना का नायकत्व रह गया, जबकि अन्य कार्य सेना-विभाग के अधीन होते थे। सेना-विभाग के अध्यक्ष के लिए विभिन्न कालों में सेनापति, महासेनापति, महाबलाधिकृत, महाप्रंचडदंडनायक आदि विविध नामों को प्रयुक्त किया गया। सेना के विभिन्न अंगों के पृथक्-पृथक् अध्यक्ष होते थे। पत्त्यध्यक्ष, हस्त्यध्यक्ष, अश्वपति, रथाधिपति आदि। नौसेना-विभाग के अध्यक्ष को नावध्यक्ष कहा जाता था।[25] सैन्य-विभाग द्वारा सैनिकों की गणना आदि के लिए विभाग में एक पुस्तक अथवा सूची बनाए जाने का उल्लेख भी प्राप्त होता है। युद्ध में वीरता प्रदर्शित करनेवाले योद्धाओं को सैनिक सम्मान प्रदान करने, पुस्तक में उनके रणकौशल, वीरकृत्य अंकित करने, वीरों की वेदना के विचारणार्थ उनको समुचित सम्मान आदि प्रदान करने का विवरण भी सैन्य-विभाग द्वारा रखा जाता था।[26] सेना के सम्पूर्ण अंगों के रसद, आयुध, वेष तथा अन्य युद्धोपकरण-संबंधी आपूर्ति का उत्तरदायित्व रणभाण्डाराधिकरण द्वारा किया जाता था।[27] सैन्य-विभाग में अनेक असैनिक अधिकारी भी विभाग की; आय-व्यय, सैनिकों के वेतन, आवास, भोजन आदि की व्यवस्था में कार्यरत रहते थे। शस्त्रों के निर्माण और संग्रह के लिए आयुधागार अथवा शस्त्रागार होता था जिसके अध्यक्ष के रूप में आयुधागाराध्यक्ष की नियुक्ति का उल्लेख प्राचीन साहित्य में प्राप्त होता है।[28] सेना-विभाग के अधीन ही चिकित्सकों का एक दल भी संगठित किया जाता था, जो युद्ध एवं शान्ति के समय सैनिकों की देखभाल का कार्य करता था। इनके अतिरिक्त गुप्तचर-व्यवस्था, दुर्ग-व्यवस्था आदि भी सैन्य-विभाग के अधीन ही आती थी।

देश-विदेश एवं पड़ौसी राज्यों की जानकारी रखने की दृष्टि से परराष्ट्र-विभाग अत्यधिक महत्त्वपूर्ण स्थान रखता था। इस विभाग के अधीन युद्ध, शान्ति और वैदेशिक संबंध आदि मामले आते थे। साधारणतः इस विभाग को शान्तिकाल में विभिन्न अधीनस्थ सामंत शासकों तथा स्वतंत्र राज्यों से संबंध बनाये रखना पड़ता था और उनकी समस्त गतिविधियों की जानकारी एकत्र करनी पड़ती थी। देश-विदेश की जानकारी प्राप्त करने के लिए परराष्ट्र-विभाग के पास उच्च कोटि के गुप्तचरों की टुकड़ियाँ भी होती थी जो छद्म वेष में विभिन्न राज्यों में प्रवेश करके उनके भेदों की जानकारी प्राप्त करके विभागाध्यक्ष के पास गुप्त-रूप से सूचनाएँ भेजा करते थे। परराष्ट्र-विभाग महासन्धिविग्राहिक नामक अधिकारी के अधीन होता था। महाकाव्यों, दृश्यकाव्यों तथा स्मृतियों में इस अधिकारी को 'दूत' कहा गया है।[29] राजतरंगिणी में इसे 'कम्पन' और अभिलेखों में महाप्रचण्डनायक कहा गया है।[30] विदेशी नागरिकों के प्रवेश संबंधी नियम एवं अनुमति पत्र आदि देना भी परराष्ट्र-विभाग के ही कार्यक्षेत्र के अन्तर्गत निहित थे। यह कार्य 'महामुद्राध्यक्ष' नामक पदाधिकारी द्वारा किया जाता था, जिसका एक पृथक् उपविभाग होता था, जो विदेशियों को राज्य में प्रवेश की अनुमति देने के साथ-साथ उनकी गतिविधियों पर कड़ी नजर रखता था।[31] विभिन्न सामन्तों के कार्यकलापों की देखरेख तथा उनसे निश्चित अवधि में उपहार, भेंट आदि प्राप्त करने की व्यवस्था भी इसी विभाग के अधीन होती थी।

राजकीय भूमि का प्रबन्ध, वनों की देखभाल, पशुओं का प्रबन्ध, राज्य की समस्त भूमि का लेखा-जोखा एवं भूमिकर वसूलना आदि महत्त्वपूर्ण कार्य राजस्व विभाग के अधीन थे। इस विभाग का कार्यक्षेत्र अन्य विभागों की अपेक्षा अधिक व्यापक था। बहुआयामी होने के कारण इस विभाग में नियुक्त अधिकारियों की संख्या अन्य विभागों के मुकाबले कहीं अधिक होती थी। राजकीय भूमि के प्रबन्धन का कार्य सीताध्यक्ष, वनों की देखभाल का कार्य अरण्याध्यक्ष, भूमिकर के रूप में एकत्र किये गये धान्यों का संग्रह करने के कार्य कोष्ठागाराध्यक्ष, धान्याध्यक्ष अथवा भाण्डागारिक के अधीन होता था।[32]

प्राचीन भारतीय साहित्य में राज्य के संदर्भ में 'अर्थ' की महत्ता पर

अत्यधिक बल दिया गया है। रामायण में राज्य की प्रत्येक प्रकार की सम्पन्नता और नैतिकता का मूल 'अर्थ' को ही बतलाया गया है।[33] इसी प्रकार अर्थशास्त्र में भी राजा तथा पुरुषार्थो के विवेचन में 'अर्थ' को ही प्रधान माना गया है।[34] इन संकेतों से स्पष्ट हो जाता है कि वित्त-विभाग राज्य तथा शासन-तन्त्र का आधार-स्तम्भ था इसी कारण इस विभाग को कभी-कभी सर्वोच्च स्थान भी प्रदान किया गया है। राज्य की समस्त आय-व्यय का निर्धारण वित्त विभाग के अधीन ही होता था।[35] इस विभाग का सर्वोच्च पदाधिकारी स्वयं राजा होता था। राजा ही व्यय के लिए अन्तिम स्वीकृति प्रदान करता था। इस कार्य-हेतु राजा जिन विभिन्न अधिकारियों की नियुक्ति करता था, उन्हें 'व्ययाधिकारी' अथवा 'व्ययकरणमहामात्य' कहा गया है। अर्थशास्त्र में अर्थ-विभाग के अधिकारी को समाहर्त्ता कहा गया है किन्तु मन्त्रियों की सूची में इसका स्थान बहुत नीचा दर्शाया गया है।[36] शुक्रनीति में वित्त-विभाग के सर्वोच्च पदाधिकारी को 'वित्तधिप' कहा गया है, जिसके अधीन अनेक अधिकारी नियुक्त किये जाते थे। इन अधिकारियों में सबसे महत्त्वपूर्ण कोष्ठागाराध्यक्ष को माना गया है, जिसके अधीन राज्य का सुरक्षित अन्न-भण्डार रहता था। अभिलेखों में इसके लिए भाण्डागाराधिकृत तथा शुक्रनीति में इसे धान्याध्यक्ष कहा गया है।

प्राचीन भारत में अनेक उद्योगों एवं व्यवसायों की विकसित अवस्था की जानकारी प्राप्त होती है जिनकी व्यवस्था एक पृथक् विभाग द्वारा की जाती थी। उद्योगों की व्यवस्था-हेतु प्राचीन भारतीय राज्य बड़े सक्रिय रहते थे। उद्योग राजकीय एवं व्यक्तिगत दोनों ही प्रकार के होते थे। विभाग में इन उद्योगों की व्यवस्था एवं देखरेख हेतु विभिन्न कर्मचारियों की नियुक्ति की जाती थी। प्राचीन भारत में सबसे प्रमुख और व्यापक उद्योग वस्त्र उद्योग था। वस्त्र उद्योग के लिए सूत्राध्यक्ष नियुक्त किये जाते थे। वस्त्र उद्योग, राजकीय आय वृद्धि एवं राज्य में निर्धन और दुर्बल आय वर्ग के व्यक्तियों के लिए रोजगार के अवसर उपलब्ध कराने हेतु, एक प्रमुख व्यवसाय के रूप में अपनाये जाने का उल्लेख प्राप्त होता है।[38] उद्योग-विभाग के अन्तर्गत विभिन्न अधिकारियों की नियुक्ति की जाती थी। इस विभाग के एक अधिकारी को

शुक्र द्वारा वस्त्राध्यक्ष नाम से अभिहित किया गया है। राज्य की समस्त खानों पर सरकारी नियन्त्रण होता था, जिनमें कुछ खानों से राज्य की ओर से स्वयं खनन कार्य कराया जाता था तथा कुछ खानों को विभिन्न व्यवसायियों को उत्खनन-हेतु दिया जाता था और उनसे निश्चित धनराशि राज्य-कोष में जमा करा ली जाती थी। खनिज पदार्थो को खोदने, रत्न निकालने, मछली पकड़ने आदि के लिए राजकीय अधिकारियों की नियुक्तियाँ की जाती थीं। ये अधिकारी विभिन्न उद्योगों पर नियन्त्रण रखने के विचार से व्यवस्था संबंधी निर्देश जारी करते थे। सरकारी मुद्राओं का निर्माण भी व्यवसायियों द्वारा ठेके पर लिए जाने के उल्लेख मिलते हैं।[40]

प्राचीन भारत में राज्य की जनता द्वारा निर्मित सामग्री का उन्हें उचित दाम दिलाने हेतु व्यापार-विभाग अथवा वाणिज्य-विभाग का गठन किया जाता था। राज्य के समस्त बाजारों पर पण्याध्यक्ष नामक अधिकारी का नियन्त्रण रहता था, जिसे हट्टपति एवं द्रांगिक नाम से भी जाना जाता था। इस विभाग का प्रमुख कार्य बाजारों अथवा हाटों की देखभाल करना, राज्य की सामग्री को लाभ पर बेचने की व्यवस्था करना तथा आयात और निर्यात एवं मूल्यों पर नियन्त्रण रखना था। ये विभाग दैनिक प्रयोग में आने वाली वस्तुओं के मूल्य निर्धारित करते थे और अनुचित संचय और मुनाफाखोरी पर नियन्त्रण रखते थे।[41] व्यापार-विभाग द्वारा ही विभिन्न व्यापारिक वस्तुओं पर चुंगी वसूलने का कार्य भी किया जाता था, चुंगी वसूलने के लिए शुल्काध्यक्ष नामक अधिकारी के अधीन विभिन्न कर्मचारियों की नियुक्ति की जाती थी। अभिलेखों में शुल्काध्यक्ष को 'शौल्लिक' भी कहा गया है।[42] शौल्लिक पर कर अदायगी न करने वाले व्यापारियों का दण्ड के रूप में जुर्माना करने का अधिकार था। व्यापार-विभाग बाजारों पर पूर्ण नियन्त्रण हेतु माप-तौल अधिकारियों की नियुक्ति भी करता था, जो समय-समय पर बाट आदि का निरीक्षण करके उन पर सरकारी मुहर लगाते थे।

राज्यों के विस्तार और विशाल साम्राज्यों की स्थापना के साथ न्याय का क्षेत्र भी व्यापक हो गया था। समस्त विवादों का समाधान अकेले राजा के

लिए सम्भव नहीं था। अतः इसके लिए पृथक् न्याय विभाग की स्थापना आवश्यक थी। इस विभाग का सर्वोच्च अधिकारी राजा होता था किन्तु कार्य की अधिकता के कारण न्याय वितरण करने के लिए राजा की ओर से प्राड्विवाक अथवा प्रधान न्यायाधीश की नियुक्ति की जाती थी। न्यायाधीशों को प्राचीन भारतीय साहित्य में धर्माध्यक्ष अथवा न्यायकरणिक कहा गया है। न्याय-व्यवस्था को बनाये रखने के लिए विभिन्न न्यायालयों, अधिकरणों, न्यायाधीशों, प्रदेष्टा, लेखक आदि की नियुक्तियों का प्रमाण प्रचुरता से मिलता है। न्याय-व्यवस्था के संबंध में विस्तृत विवेचना इसी अध्याय में अलग से की गयी है।

राज्य में आन्तरिक शान्ति एवं व्यवस्था बनाये रखने के लिए आन्तरिक सुरक्षा-विभाग की स्थापना की जाती थी। अभिलेखों में इस विभाग के अधिकारियों को चोरोद्धरणिक और दण्डपाशिक नाम से अभिहित किया गया है। इस विभाग के कर्मचारी नगरों में चोरों और अपराधियों को पकड़कर तथा उन्हें दण्ड देने के उद्देश्य से कालपाशिक, दण्डपाशिक अथवा चोरोद्धरणिक नामक पदाधिकारियों के सुपुर्द करते थे।[43]

प्राचीन भारतीय संस्कृत साहित्य में सैद्धान्तिक रूप से स्वीकार किया गया है कि चारों वर्णाश्रमों को अपने-अपने कर्मो और कर्त्तव्य-भावना में संलग्न किये रखना राजा का परम कर्त्तव्य है।[44] इसी उद्देश्य की पूर्ति-हेतु राजा द्वारा पृथक् धर्म-विभाग की स्थापना की जाती थी। राजा अपने इस परम दायित्त्व का निर्वाह धार्मिक विषयों के मंत्रालय द्वारा करता था, जो परम्परागत रूढ़ियों के पालन के साथ अपवादी और आकस्मिक परिस्थितियों की भी व्यवस्था करता था। राजा अपने धार्मिक उत्तरदायित्व की पूर्ति 'पुरोहित' अथवा 'पण्डित' नामक पदाधिकारी को माध्यम से करता था, जिसे विभिन्न समय में भिन्न-भिन्न नामों से पुकारा गया है, यथा—धर्माध्यक्ष, धर्ममहामात्य, विनयस्थिति, श्रमणमहामात्र, स्थापक, धर्मांकुश आदि।[45] रामायण में इस विभाग के प्रधान अधिकारी को 'धर्मपाल' नाम से अभिहित किया गया है।[46] इस विभाग के अधीन विभिन्न धार्मिक कार्यो के लिए दान आदि देने के लिए एक पृथक्

अधिकारी का उल्लेख प्राप्त होता है, जिसे 'दानपति' कहा जाता था। मन्दिर आदि धार्मिक स्थलों की देखभाल के लिए 'अग्रहारिक' नामक अधिकारी की नियुक्ति किये जाने का उल्लेख प्राप्त होता है। अग्रहारिक राज्य में इस बात का ध्यान रखता था कि राज्य द्वारा दिये गये दान का उचित व्यक्तियों अथवा व्यक्ति द्वारा उचित प्रयोग किया जा रहा है अथवा नहीं। दान प्राप्त करनेवाला व्यक्ति कहीं अपने अधिकारों से किसी कारणवश वंचित तो नहीं कर दिया गया है, यह देखना भी 'अग्रहारिक' का कार्य था।[47]

राज्य की सर्वांगीण उन्नति तथा विकास-योजनाओं को क्रियान्वित करना राष्ट्र-विकास-विभाग का दायित्व था। राज्य की भौतिक श्रीवृद्धि तथा कृषि का विकास भी इसी विभाग के अन्तर्गत आता था। इस विभाग के मंत्री को 'राष्ट्रवर्धन' कहा गया है।[48]

सन्दर्भ-संकेत

1 काणे, पी वी., धर्मशास्त्र का इतिहास, भाग-2, पृ 628
1क. अथर्ववेद, 3/5/6-6; पचविश ब्राह्मण, 19/1/4
2 वा रामायण, 2/100/30, महाभारत, विराटपर्व, 5/38
3. परमात्माशरण, प्राचीन भारत मे राजनीतिक विचार एव सस्थाएँ, पृ 392
4 विष्णुस्मृति, 3/16, राजतरंगिणी, 1/118/20ए 4/141 और आगे
5. जायसवाल, काशीप्रसाद, हिन्दू राजतत्र, पृ. 260
6 अल्टेकर, ए. एस., प्राचीन भारतीय शासन पद्धति, पृ 143
7 भट्ट, जनार्दन, अशोक के धर्मलेख, पृ 68-82
8 ला, एन. एन , इन्टरस्टेट रिलेशन इन ऐन्शियण्ट इण्डिया, पृ 343
9. रघुवंश, 17/68
10 काणे, पी. वी., धर्मशास्त्र का इतिहास, भाग-2, पृ 644-45
11. अर्थशास्त्र, 2/10
12. अल्टेकर, ए. एस , प्राचीन भारतीय शासन पद्धति, पृ 139
13 बैनीप्रसाद, दी स्टेट इन एन्शियण्ट इण्डिया, पृ. 212
14. एपि. इण्डि., जिल्द 3, पृ. 206, एपि इण्डि. जिल्द 9, पृ 64
15. अविमारक, अंक 3
16. शुक्रनीति, 2/119
17. मजूमदार, आर. सी., हिस्ट्री आव् बगाल, पृ. 284
18 मिश्र, सुदामा, प्राचीन भारत मे जनपद राज्य, पृ. 121

19. अर्थशास्त्र, 1/20
20. अग्रवाल, वासुदेवशरण, इण्डिया एज् नोन टू पाणिनि, पृ. 406
21 अभिज्ञानशाकुन्तल, 5/3, मृच्छकटिक, अक 9
22 मालविका., अंक 5
23 शुक्रनीति, 2/119
24. अभिषेक, अक 4
25 रघुवंश, 4/36
26 पंचरात्रम्, अंक 2
27. सिंह, सभापति, प्राचीन भारतीय सैन्य व्यवस्था, पृ 313
28. प्रतिज्ञा., अंक 4
29. अल्टेकर, ए. एस., प्राचीन भारतीय शासन पद्धति, पृ. 146
30. राजतरंगिणी, 7/365, एपी. इण्डि., भाग-2, पृ. 225
31 मिश्र, सुदामा, प्राचीन भारत में जनपद राज्य, पृ. 115
32 अल्टेकर, ए. एस, प्राचीन भारतीय शासन पद्धति, पृ 147
33 वा रामायण, 3/43/33, 6/83/35-39
34 अर्थशास्त्र, 1/17
35. मनुस्मृति, 7/65
36 अर्थशास्त्र, 1/12/8
37 शुक्रनीति, 2/118
38 अल्टेकर, ए. एस., प्राचीन भारतीय शासन पद्धति, पृ 148
39. शुक्रनीति, 2/119
40 एपि. इण्डि, भाग-13, पृ. 239
41. मजूमदार, आर. सी., हिस्ट्री ऑफ बगाल, पृ 224
42 एपि. इण्डि, भाग-13, पृ. 71
43 एपि. इण्डि, भाग-16, पृ 73
44 महाभारत, शान्तिपर्व, 25/35
45 अल्टेकर, ए एस, प्राचीन भारतीय शासन पद्धति, पृ 152
46. वा. रामायण, 1/5723
47. मजूमदार, आर. सी., हिस्ट्री ऑफ बगाल, पृ. 224-226
48 वा रामायण, 1/57/2-4

—उपाचार्य-इतिहास विभाग
सं. ध. स्नातकोत्तर महाविद्यालय
मुजफ्फरनगर (उ. प्र.)

श्रमणचर्या का अभिन्न अंग अनियतविहार

—डॉ. श्रेयांसकुमार जैन

श्रमण का जीवन सर्वश्रेष्ठ है, इसीलिए गृहस्थ व्रतों का पालन करता हुआ प्रतिपल/प्रतिक्षण यही चिन्तन करता है कि वह दिन कब आयेगा जिस दिन मैं श्रमणधर्म को ग्रहण कर अपने जीवन को सार्थक करूँगा। चिन्तन मनन के फलस्वरूप गृहस्थ गृहवास का त्याग कर रत्नत्रयधारी निर्ग्रन्थ वीतरागी गुरु की शरण में पहुँचकर स्वेच्छाचार विरोधिनी जैनेश्वरी दीक्षा अंगीकार करके श्रमण (साधु) के स्वरूप को प्राप्त करता है। जीवन को मंगलमय बनाता है, उसका मूल उद्देश्य विभाव से हटकर स्वभाव में रमण करना, प्रदर्शन न कर आत्मदर्शन करना, केवल आत्मविकास के पथ पर आगे बढते रहना होता है।

मूल उद्देश्य को ध्यान में रखकर नव दीक्षित साधु अपने गुरु के साथ संघीय परम्पराओं का पालन करते हुए देश देशान्तर में विहार करता है। आत्मा की साधना में लीन रहते हुए धर्म प्रभावना करता है। दीक्षा लेने के बाद साधु का विहार निरन्तर होता है। साधु के विहार के प्रसंग में आचार्य वट्टकेर स्वामी लिखते हैं—

गहिदत्थेय विहारो विदिओऽगिहिदत्थ संसिदो चेव।
एत्तो तदिय विहारो णाणुण्णादो जिणवरेंहिं।। 140।। मूलाचार

विहार के गृहीतार्थ विहार और अगृहीतार्थ विहार ऐसे दो भेद हैं, इनके सिवाय जिनेश्वरों ने विहार की आज्ञा नहीं दी है।

· जीवादि तत्त्वों के स्वरूप के ज्ञाता मुनियों का जो चरित्र का पालन करते हुए देशान्तर में विहार है, वह गृहीतार्थविहार है और जीवादि तत्त्वों को न जानकर चरित्र का पालन करते हुए जो मुनियों का विहार है, वह अगृहीतार्थसंश्रितविहार है। इन दोनों प्रकार के विहारों के अर्थ को समझकर

यह ज्ञात होता है कि साधु को एक स्थान पर ही रहने का विधान नहीं है, वह तो एक गांव से दूसरे गॉव या एक नगर से दूसरे नगर में जाता रहता है, मूलाचार में कहा है–गांव में एक दिन तथा नगर में पांच दिन अधिक से अधिक रहकर विहार कर जाता है जैसा कि आचार्य सकलकीर्ति ने लिखा है–प्रासुक स्थान में रहने वाले विविक्त एकान्त स्थान में निवास करने वाले मुनि किसी गांव में एक दिन रहते हैं और नगर मं पांच दिन रहते हैं।[1] चर्यापरीषह के वर्णन प्रसंग में यही बात भट्टाकलंकदेव ने कही है।[2] श्वेताम्बर साहित्य में भी यही बात आयी है। निर्ग्रन्थमुनि को एक स्थान पर रहने की अनुमति नहीं दी गई है। वह तो भारुण्ड पक्षी की तरह अप्रमत्त होकर ग्रामानुग्राम विहार करता है। विहार की दृष्टि से काल दो भागों में विभक्त है एक वर्षाकाल और दूसरा ऋतुबद्ध काल। वर्षाकाल में श्रमण को साढ़े तीन माह या चार माह तक एक स्थान पर रुकना चाहिए। हॉ कार्तिक कृष्णा अमावस्या को चातुर्मास पूर्ण हो जाय तो कार्तिक शुक्ला पञ्चमी तक तो अवश्य उसी स्थान पर रुकना चाहिए इसके बाद कार्तिक पूर्णिमा तक भी धर्मप्रभावना या अन्य अपरिहार्य कार्यवश उसी स्थान पर साधु रुक सकते हैं।[3] दूसरा ऋतु काल है जिसमें स्वाध्याय आदि के निमित्त गुरु आज्ञापूर्वक एक माह रुकने का भी विधान है। कहा भी है–वसन्तादि छहों ऋतुओं में से प्रत्येक ऋतु में एक मास पर्यन्त ही एक स्थान पर साधु रहे। अनगार धर्म 9/68-69 वर्षाकालस्य चतुर्षु मासेषु एकत्रैवावस्थानं भ्रमणत्यागः।। भ. अ. वि. टी. 421 अर्थात् वर्षाकाल के चार माहों में भ्रमण का त्यागकर एक ही स्थान पर आवास करना चाहिए।

वर्षा ऋतु में चार माह एक स्थान पर रुकने का कारण है, वर्षा ऋतु में चारों ओर हरियाली होने से मार्गो के अवरुद्ध होने तथा पृथिवी त्रस-स्थावर जीवों की संख्या बढ़ जाने से संयम आदि का पालन कठिन हो जाता है। अनगारधर्मामृत में वर्षावास के सम्बन्ध में कहा है कि–आषाढ़ शुक्ला चतुर्दशी की रात्रि के प्रथम प्रहर में चैत्यभक्ति आदि करके वर्षायोग ग्रहण करना चाहिए तथा कार्तिक कृष्णा चतुर्दशी की रात्रि के पिछले प्रहर में चैत्यभक्ति आदि करके वर्षायोग छोड़ना चाहिए। अनगारधर्मामृत 9/68-69

गामेयरादिवासी णयरे पंचातवासिणो धीरा।
सवणा फासुविहारी विविक्त एगांतवासी।। मू. आ.-487

बोधपाहुड टीका में इस प्रकार कहा है कि—वसितै वा ग्राम नगरादौ वा स्थातव्यं नगरे पंचरात्रे स्थातव्यं ग्रामे विशेषेण न स्थातव्यम् (42/107) अर्थात् नगर में पांचरात्रि और गांव में विशेष नहीं रहना चाहिए। वर्षावास समाप्त होने पर श्रमण को विहार तो करना ही होता है किन्तु यदि वर्षा का आधिक्य हो नदी नालों के तीव्र प्रवाह के कारण मार्ग दुर्गम हो गये हों कीचड़ आदि की अधिकता हो या बीमारी आदि का भी कारण हो तो साधु वर्षायोग के बाद भी नगर ग्राम के जिनमन्दिर में ठहरे रह सकते हैं।

आचार्यवर्य सिद्धान्तसार संग्रह में वर्षाकाल में मुनि को समिति क्षेत्र से बाहर जाने की परिस्थियों को भी दर्शाते हैं—

द्वादश योजनान्येव वर्षाकालेऽभिगच्छति।
यदि संघस्य कार्येण तदा शुद्धो न दुष्यति।। 10/59
यदि वाद-विवादः स्यान्महामतविघातकृत।
देशान्तरगतिस्तस्मान्न च दुष्टो वर्षास्वपि।। 10/60

वर्षाकाल में संघ के कार्य के लिए यदि मुनि बारह योजन तक कहीं जायेगा तो उसका प्रायश्चित्त ही नहीं है और यदि वाद-विवाद से महासंघ के नाश होने का प्रसंग हो तो वर्षाकाल में भी देशान्तर जाना दोषयुक्त नहीं है।

भगवती आराधना में तो अनियतविहार नामक साधु की चर्या का पृथक् अधिकार ही है। इसमें अनियतविहार द्वारा साधु में दर्शन की शुद्धता, स्थितिकरण, भावना, अतिशयार्थकुशलता, क्षेत्रपरिमार्गणा गुणों की उत्पत्ति बतायी है।[4]

अनेक क्षेत्रों में विहार करने से साधु तीर्थकरों की जन्म, तप, ज्ञान और समवशरण की भूमियों के दर्शन और ध्यान करने से अपने सम्यक्त्व को निर्मल रखता है। जगह-जगह विहार के काल में अन्य वीतरागी साधकों से मिलने पर संयम की अभिवृद्धि होती हे उनके उत्तम चारित्र को जानकार स्वयं उत्तम

चारित्र पालन के प्रति उत्साह बढ़ता है। सदाकाल विहार करते रहने पर धर्म में प्रीति बढ़ती हैं। पाप से भयभीत रहता है। सूत्रार्थ में प्रवीणता आती है।[5] दूसरे के संयम को देखने से धर्माराधकों की धर्माराधना को देखने से स्वयं को धर्म में स्थितिकरण की भावना जगती है।[6] निरन्तर विहार करने वाले साधु को चर्या परीषह होती है, कंकण मिट्टी पैरों में चुभती है। पादत्राण रहित चरणों से मार्ग में चलने पर जो वेदना उत्पन्न होती है उसे संक्लेश भाव रहित सहन करने पर चर्यापरीषह सहन होती है जिससे संयम की वृद्धि होती है। क्षुधा, तृषा, शीत उष्ण परीषह सहन की शक्ति बढ़ती है।[7] अनेक क्षेत्रों में विहार करने वाले साधु को अतिशय रूप अर्थ में प्रवीणता भी आ जाती है। जैसा कि कहा है–

णाणादेसे कुसलो णाणादेसे गदाण सत्थाणं।
अभिलाव अत्थकुसलो होदि य देसप्पवेसेण।। भग. आ. 153

नवीन-नवीन स्थानों पर विहार करने से अनेक देशों के रीति-रिवाज का ज्ञान होता है लोगों के चारित्र पालन की योग्यता-अयोग्यता की जानकारी होती है। अनेक मन्दिरों आदि स्थानों पर विराजमान शास्त्रों में प्रवीणता होती है। अर्थ बोध होता है। अनेक आचार्यों के दर्शन लाभ से अतिशय रूप अर्थ में कुशलता भी होती है।[8]

देशान्तरों में विहार करने वाले साधु को उस क्षेत्र का परिज्ञान होता है जो क्षेत्र कर्दम, अंकुर त्रस जीवों की बहुलता से रहित हैं। जीव बाधा रहित गमन योग्य क्षेत्र को भी जान लेता है। जिस क्षेत्र में आहार पान मिलना सुलभ होता है और सल्लेखना आदि के योग्य होता है उसका भी ज्ञान होता है। इसलिए अनियतविहार आवश्यक है।[9]

इसी सम्बन्ध में और भी कहा है–

प्रेक्ष्यन्ते बहुदेश संश्रयवशात्संवेगिताद्यांप्तय-
स्तीर्थाधीश्वर केवली द्वयमही निर्वाणभूम्यादयः।
स्थैर्यं धैर्यं विरागतादिषु गुणेष्वाचार्यवर्यैं,
क्षणद्विधा वित्तसमागमाधिगमो नूनार्थ सार्थस्य च।।

अनियतविहार करने में अनेक देशों का आश्रय लेना पड़ता है जिसमें संवेग वैराग्य आदि अनेक गुणों को धारण करने वाले अनेक आप्तजनों के पूज्य पुरुषों के दर्शन होते हैं। तीर्थङ्करों को जहाँ जहॉ केवलज्ञान प्रगट हुआ है अथवा जहाँ जहॉ निर्वाण प्राप्त हुआ है उन समस्त तीर्थक्षेत्रों के दर्शन प्राप्त होते हैं। अनेक उत्तमोत्तम आचार्यों के दर्शन से धीरता वैराग्य आदि तथा उत्तम गुणों से स्थिरता प्राप्त होती है और विद्यारूपी धन की प्राप्ति होने से निश्चित अर्थो के समूह का ज्ञान होता है।

अनियतविहारी साधक की सल्लेखना भी ठीक तरह से होती है क्योंकि वह जगह-जगह विहार करते रहने के कारण उन स्थानों में भी परिचित होता है, जहाँ धार्मिकता होती है। एकान्त, शान्त, निराकुलता रह सकती है। नियतवासी प्रायः स्थान विषयक अथवा अपने निकटस्थ लोगों के प्रति रागभाव रखने लगते हैं अतः दूसरे अपरिचित स्थान और मनुष्यों के बीच पहुँचकर साधक भली प्रकार से सल्लेखना ग्रहण कर आत्मकल्याण कर सकता है कहा भी है—

सद्रूपं बहुसूरि भक्तिकयुतं क्षमादि दोषोज्झितं,
क्षेत्रपात्रमीक्ष्यते तनुपरित्यागस्य निःसंगता।
सर्वस्मिन्नपि चेतनेतर बहिः संगे स्वशिष्यादिके,
गर्वस्यापचयः परीषहजयः सल्लेखना चोत्तमा।।

मुनिराज को सल्लेखना धारण करने के लिए ऐसे क्षेत्र देखने चाहिए, जहाँ पर राजा उत्तम धार्मिक हो, जहाँ के लोग सब आचार्यादिकों की बहुत भक्ति करने वाले हों तथा जहाँ के लोग आचार्यादिकों की बहुत भक्ति करवाने वाले हों। जहाँ पर निर्धन और दरिद्र प्रजा न हो। इसी प्रकार पात्र ऐसे देखने चाहिए जिनके शरीर त्याग करने में भी निर्मोहपना हो तथा अपने शिष्यादिकों में भी अभिमान न हो और जो परिषहों को अच्छी तरह जीतने वाले हों ऐसा क्षेत्र और पात्रों को अच्छी तरह देखकर सल्लेखना धारण करनी चाहिए।

उक्त व्यवस्था अनियतविहारी साधु की ही बन सकती है, जो एक स्थान

पर रहते हैं, उनकी सल्लेखना समाधि भी आगमोक्त रीति से कैसे संभव है? अतः वर्तमान में मुनि/आर्यिका/त्यागी/व्रती सभी को विचार करना चाहिए कि जीवन भर की सार्थकता निहित स्वार्थ के कारण न खो जाय।

मूलाचार प्रदीप में कहा है—प्रासुक स्थान में रहने वाले और विविक्त एकान्त स्थान में निवास करने वाले मुनि किसी गाँव में एक दिन रहते हैं और नगर में पाँच दिन रहते हैं। सर्वथा एकान्त स्थान को ढूँढ़ने वाले और शुक्लध्यान में अपना मन लगाने वाले मुनिराज इस लोक में गंध-गज (मदोन्मत्त) हाथी के समान ध्यान के आनन्द का महासुख प्राप्त करते हैं। 31-32

आचार्य शिवार्य वसतिका आदि में ममत्व के अभाव को भी अनियतविहार मानते हैं—

वसधीसु य उवधीसु य गामे णयरे गणे य सण्णिजणे।
सव्वत्थ अपडिबद्धो समासदो अणियदविहारो।। भग. आ. 153

वसतिका में, उपकरण में, ग्राम में, नगर में, संघ में, श्रावकों में ममता के बन्धन को न प्राप्त होने वाला अनियतविहार करने वाला साधु है। अर्थात् जो ऐसा नहीं मानता कि यह वसतिका मेरी है, मैं इसका स्वामी हूँ सभी परद्रव्यों, परक्षेत्रों, परकालों से नहीं बंधा हूँ वह अनियमितविहार करने वाला है।

उक्त सभी लाभ अनियतविहार करने वाले को ही प्राप्त हो सकते हैं, जो एक स्थान पर रहकर धर्म का पालन करना चाहें, वह संभव नहीं है।

साधु को निरन्तर विहारी होने के कारण श्रेष्ठ कहा है कवि ऋषभदास ने कहा है—

स्त्री पीहर, नरसासरे संयमियां थिरवास।
ऐ त्रणवे जलखामणा जो मण्डेचिरवास।।

अर्थात् स्त्री का मायके रहना, पुरुष का ससुराल में रहना और साधुओं का एक स्थान पर रहना तीनों ही अनिष्टकारी हैं।

हिन्दी के किसी कवि ने भी कहा है–

वहता पानी निर्मला, बन्धा सो गन्दा होय।
साधु तो रमता भला दाग न लागे कोय।।

साधु व्रती श्रेष्ठ कहा गया है जो एक स्थान छोड़कर दूसरे स्थानों को जाता है। साधु के निवास के विषय में शास्त्रों में विशद विवेचन किया गया है। वे मुनिराज पहाड़ों पर ही पर्यकासन अर्धपर्यकासन व उत्कृष्ट वीरासन धारण कर व हाथी की सूंड के समान आसन लगाकर अथवा मगर के मुख का सा आसन लगाकर अथवा एक करवट से लेटकर अथवा कठिन आसनों को धारण कर पूर्ण रात्रि बिता देते हैं।

भट्टाकलंकदेव साधु के योग्य निवास के सम्बन्ध में लिखते हैं "शय्या और आसन की शुद्धि में तत्पर साधु को स्त्री, क्षुद्र, चोर, महापापी, जुआरी, शराबी और पक्षियों को पकड़ने वाले पापी जनों के स्थान में वास नहीं करना चाहिए तथा श्रृंगार विकार, आभूषण, उज्जवल वेश, वेश्या की क्रीड़ा से अभिराम (सुन्दर) गीत नृत्य वादित्र आदि से व्याप्त शाला आदि में निवास का त्याग करना चाहिए। शयनासन शुद्धि वाले हैं संयतों को तो अकृत्रिम (प्राकृतिक) पर्वत की गुफा वृक्ष, से नहीं बनाये गये हो और जिनके बनने बनाने में अपनी ओर से किसी तरह का आरम्भ नहीं हुआ है ऐसे स्वाभाविक रीति से (अकृत्रिम) बने हुए पर्वत की गुफाएं या वृक्षों के कोटर आदि तथा बनवाये हुए सूने मकान वसतिका आदि अथवा जिनमें रहना छोड़ दिया गया है अथवा छुड़ा दिया गया है ऐसे मोचितावास आदि स्थानों से रहना चाहिए।

वर्तमान में वसतिकाएं निर्माण की होड़ लगी हुई है चाहे वह किसी भी नाम से निर्मित करायी जाय। हाँ गृहस्थ का आवास आठ दस कमरों का हो सकता है किन्तु मुनि की वसतिकाएं बहुमंजली इमारतों से युक्त विशाल परिसर में नाना विभागों से अलंकृत होने से ही गौरव है। तभी तो मुनि या आर्यिका पचास लाख या करोड़ों की परियोजना में जुटे हुए हैं। ऐसा करने में ही तो पूर्वाचार्यों के कथन का उल्लंघन कर अपना श्रेष्ठत्व

स्थापित करने की सफलता है क्योंकि पूर्वाचार्यों ने तो गिरी कंदरा या वन में निवास करने को कहा हैं—शून्यघर, पर्वतगुफा, वृक्षमूल, अकृत्रिमघर, श्मशानभूमि, भयानक वन, उद्यानघर, नदी का किनारा आदि उपयुक्त वसतिकाएं हैं।[10] बोधपाहुड़ में भी कहा है इनके अतिरिक्त अनुदिष्ट देव मन्दिर, धर्मशालाएं, शिक्षाघर आदि भी उपयुक्त वसतिकाएं हैं।

जिनेन्द्रमन्दिरे सारे स्थितिं कुर्वन्ति येऽङ्गिनः।
तेभ्यः संवर्द्धते धर्मो धर्मात्संपत् परानृणाम्।।

श्रेष्ठ जिनमन्दिर में जो मुनिराज आदि ठहरते हैं, उनसे धर्म बढ़ता है और धर्म से मनुष्यों को श्रेष्ठ सम्पत्ति की प्राप्ति होती है और भी कहा है—

मुनिः कश्चित् स्थानं रचयति यतो जैनभवने,
विधत्ते व्याख्यानं यदवगमतो धर्मनिरताः।
भवन्तो भव्यौघा भवजलधिमुत्तीर्यसुखिनर—
ततस्तत्कारी किं जनयति जनो यन्न सुकृतम्।।

यतश्च जिनमन्दिर में कोई मुनिराज आकर ठहरते हैं, तथा व्याख्यान करते हैं, जिनके ज्ञान से भव्य जीवों के समूह धर्म में लीन होते हुए संसार समुद्र को पारकर सुखी होते हैं। अतः जिनमन्दिर के निर्माण कराने वाला पुरुष ऐसा कौन पुण्य है, जिसे न करवाता हो।

साधु के योग्य निवास के सम्बन्ध में आचार्य अकलंक यह लिखते हैं— संयतेन शयनासन शुद्धिपरेण। स्त्रीक्षुद्रचौरपानाक्षशौण्ड शाकुनिकादिपापजनवासावर्ज्याः शृंगारविकारभूषणोज्जवलवेषवेश्याक्रीड़ाभिरामगीतनृत्यवा—दित्ताकुलशालादयश्च परिहर्तव्या। अकृत्रिमगिरिगुहातरुकोटरादयःकृत्रिमाश्च शून्यागारादयो, मुक्तमोचितावासा अनात्मोद्देशनिर्वतिता निराम्भा सेव्या। (तत्त्वार्थवार्तिक 9/5 पृ. 552)

शय्या और आसन की शुद्धि में तत्पर साधु को स्त्री, क्षुद्र, चौर, मद्यपायी, जुआरी, शराबी और पक्षियों को पकड़ने वाले आदिं पापी जनों के स्थान में वास नहीं करना चाहिए तथा शृंगार, आभूषण, उज्जवल, वेश की क्रीड़ा से अभिराम

(सुन्दर) गीत, नृत्य, कादित्र आदि से व्याप्त शाल आदि में रहने का त्याग करना चाहिए। शासनासन शुद्धि वाले संयतो को तो अकृत्रिम (प्राकृतिक) पर्वत की गुफा, वृक्ष के कोटर आदि तथा कृत्रिम शून्यागार छोड़े हुए घर आदि ऐसे स्थानों में रहना चाहिए, जो उनके उद्देश्य से नहीं बनाये गये हो और जिनमें उनके लिए कोई आरम्भ न किया गया हो।

मुनियों का निवास तीन प्रकार का होता है। स्थान–खड़े होना, आसन–बैठना और और शयन-सोना।

इस प्रकार की वसतिकाओं में निवास करने पर ही परीषहजय नामक तप की पूर्णता होगी आचार्यो ने प्रत्येक परीषह का स्वरूप बताकर उन पर जय प्राप्त करने वाले साधकों की प्रशंसा की है।

जैनाचार्य मठ, आश्रम आदि में स्थायी निवास करने की मुनि/आर्यिका को अनुमति प्रदान नहीं करते हैं। न जाने वर्तमान में यह प्रवृत्ति क्यों बढ़ रही है कि साधु/साध्वी/त्यागी व्रती अपनी देख-रेख में कोई न कोई आश्रम/मठ/संस्थान/संस्था का निर्माण कराकर उसी को अपना निवास बना रहे हैं। आस्था से जकड़ी समाज साधु/साध्वी/त्यागी/व्रती के कहने पर शक्ति के अनुसार अर्थ सहयोग करती है और उनकी बलवती इच्छाओं को पूर्ण करना अपना कर्त्तव्य समझती है। यदि कोई प्रबुद्ध समाज के मध्य कहता है कि अपरिग्रही साधक को परिग्रही बनाकर धर्म की हानि क्यों की जा रही है। साधुओं को एक स्थान पर नहीं रहना चाहिए गृहस्थों के साथ रहने पर परीषह भी आ जाते हैं जिससे साधक की साधना में दोष लगने की संभावना रहती है। इसका उत्तर समाज के पास होता है कि ये मुनि/आर्यिका अपने साथ तो नहीं ले जायेगें। रहेगी तो अपने पास अपने लोगों के ही कार्य आयेगी। इनके निमत्ति से बाहर का रुपया हमारे गृह स्थान या तीर्थ स्थान पर लग रहा है। इसी लोभ, कषायवश स्थानीय समाज साधु/साध्वी/त्यागी/व्रती का पूर्ण बढ़ चढ़कर सहयोग करते हैं। यह सहयोग नहीं है अपितु श्रमण संस्कृति को दोषपूर्ण बनाने का कारण ही है क्योंकि यह व्यवस्था साधुओं को भी प्रलोभन में फंसा देती है और याचना भी करनी पड़ती है।

साधु सोचने को तैयार नहीं कि याचनाशील होने पर मैं मोक्षमार्ग से च्युत हो जाऊँगा। आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी ने याचना करने वाले को मोक्षमार्ग से पृथक् माना है।

जे पंच चेल सत्ता गथग्गाहीय जायणासीला।
अधा कम्मम्मि रया ते चत्ता मोक्खमग्गम्मि।। 79 मो. पाहुड़

जो पांच प्रकार के वस्त्रों में आसक्त हैं परिग्रह को ग्रहण करने वाले हैं याचना करते हैं तथा अधःकर्म निंद्यकर्म में रत हैं, वे मुनि मोक्षमार्ग से पतित हैं। परिग्रही साधक विशुद्धि को भी प्राप्त नहीं होता है जैसा कि कहा है–

वैषम्ययत्यप्यं दिव्यं स्वीयमनिन्धं यद् द्रव्यम्।
निश्चयनयस्य विषयगृहीव परिगृही नाव्यम्।।

यह परिग्रहवान् मुनि भी निश्चयनय के विषयभूत अनिन्दनीय दिव्य और अविनाशी स्वकीय द्रव्य को गृहस्थ के समान प्राप्त नहीं होता अर्थात् जिस प्रकार परिग्रही गृहस्थ शुद्ध आत्मा को प्राप्त नहीं होता उसी प्रकार परिग्रही साधु भी नहीं प्राप्त होता है। अतः विशुद्धि को बढ़ाने के लिए साधुओं का एक स्थान विशेष पर जीवन भर या लम्बी अविध रुकने का मोह नहीं होना चाहिए जिससे उनका 'अनियमित विहार' चलता रहेगा और वे आगम की मर्यादा की सुरक्षा करते हुए मोक्षमार्ग की महती प्रभावना कर सकेंगे।

सन्दर्भ

1. मूलाचार प्रदीप 31
2. तत्वार्थवार्तिक भा. पृ. 595
3. बृहत्कल्पभाष्य 1/36
4. दंसणसोधी ठिदिकरणभावणा अदिसयत्तकुसलत्तं।
   खेतपरिमग्गणावि य अणियदवा ते गुणा होंति।। भग. आराधना गा. 147

5 वही पृष्ठ 148, 149, 150

6 सविग्गदरे पासिय पियधम्मदरे अवज्जभीरुदरे।
संयमवि पियथिरधम्मो साधू विहंरतओ होदि।। भग. आराधना गा. 151

7. वही गा. 152

8. सुत्तत्थथिरीकरणं अदिसयिदत्थाण होदि उवलद्धी।
आयरियदंसणेण दु तह्मा सेवेज्ज आयरियं।। भग. आराधना गा. 155

9. संजदजणस्स य जहिं फासुविहारो य सुलभवुत्ती य।
तं खेत्तं विरहन्तो णाहिदि सल्लेहणाजोग्गं।। भग. आराधना गा. 157

10. मूलाचार समाचार अधिकार।

11. मूलाचार प्रदीप 31

12 तत्त्वार्थवार्तिक भाग-2, पृष्ठ 595 *(आर्यिका सुपार्श्वमती माता जी कृत हिन्दी टीका)*

—उपाचार्य-संस्कृत,
दि. जैन कॉलिज, बड़ौत

ढूंढारी भाषा की एक प्राचीन कृति - होली की कथा

—अनूपचन्द न्यायतीर्थ

अभी कुछ दिन पूर्व दिगम्बर जैन मन्दिर चौधरी पान छाजूलाल जी साह की गली जयपुर में हस्तलिखित ग्रंथ भण्डार को देखते समय छीतरठोलिया द्वारा रचित ढूंढारी भाषा की एक प्राचीन पद्य रचना 'होली की कथा' पर दृष्टि पड़ी। रचना के दोनों ओर के मिलाकर 14 पृष्ठ हैं आकार 14 x 5 इंच है, हासिया में दोनो तरफ 1½ x 1½, इंच की जगह छोड़ लाल स्याही की बोर्डर है। लिपि देवनागरी है। प्रत्येक पृष्ठ में 8 पंक्तियां तथा प्रत्येक पंक्ति में काली स्याही से सांगानेरी कागज पर उच्च्य अक्षर हैं—लिखावट सुन्दर है। रचना ऐतिहासिक है। प्रारंभ में मंगलाचरण के साथ जयपुर नगर के वैभव तथा निवासियों की श्रावकों की जानकारी प्रस्तुत की है—

प्रांरभ

ऊँ नमोः श्री वीतरागाय नमः अथ होलिका चरित लिख्यते।।

चौपाई

बंदों आदिनाथ जगसार, जा प्रसाद पाऊँ भवपार।
वर्द्धमान की सेवा करौ, ज्यों संसार बहुरिनहि फिरौ।। 1।।

सारदमाता तणै पसाई, होली कथा कहौं निरताई।
पंडितजन हासौ मति करौ, भूलोअक्षर सोधि विद्वट्वरौ।। 2।।

जंबूदीप जाणै सबकोइ तिहमै मेरु सुदर्शन होई।
मेर भाग की दक्षिण दिसै, भरथ क्षेत्र महिपुर बसै।। 3।।

जयपुर नगर बसै तिहि मांहि, धन करन सोभा कही न जाहि।
स्त्री जन सोभै तहां भली, जाणिक चित्रतणी फूतली।। 4।।

जिण चैत्याल सोभै अती, श्रावक पूज करै दिन प्रती।
करै महोछव मंगलाचार, कामिणि गावै गीत अपार।। 5।।

श्रावक लोक बसै धनवंत, पूजा करै जपै अरिहंत।
जो वर्णे राजा तिहि भलों, राजनीति सोभै गुण निलौ।। 6।।

पटराणी जै प्रिया सुजाणि, गुण लावण्य रूप कीं खानि।
सेठ मनोरथ सोभै भलो, दान पुण्य जाणै गुण निलौ।। 7।।

लक्ष्मीमति सेठाणी जाणि, तिहकी सोभा अधिक बरणाणि।

बीच में होलिका दहन काम कथा का वर्णन करते हुए होली खेलना मिथ्यात्व कहकर जलती हुई होली देखना भी नरक गति का कारण कहा है।

अंतिम 96 से 100 पद्यों में रचनाकार रचना स्थान रचना काल आदि का ऐतिहासिक वर्णन उपलब्ध है-

सोलासैसाठ शुभ वर्ष, फागुण शुक्ल पूर्ण महा हर्ष।। 17।।

सो है मोजमावाद निवास, पूजै मन की सगली आस।
सोभै राइमान कौ राज, जिहिविधी पूरब लग याज।। 18।।

सुखी वसै नगर में लोग, दान पुण्य जाणै सहुलोग।
इहविधि काल गमै दिनरात, जाणै नही दुःख की जाति ।। 19।।

छीतरठोलया विनती करै, हीया में जिणवाणी धरै।
पंडित आगै जोडै हाथ, भूलौ हो तो ज्यो नाथ।। 20।।

भाव भेद हूं जाणै नही, होली तणी कथा मैं कही।
जो सीखै पालै मन लाइ, सो नर स्वर्गतणी गति जाइ।।

मोजमाबाद जयपुर राज्य का प्राचीन नगर है जहां बादशाह अकबर के

प्रमुख सेनापति राजा मानसिंह का राज्य था। कवि ने संवत 1690 में वहीं बैठकर रचना की है तथा वहां के तत्कालीन वैभव का वर्णन किया है। मोजमाबाद में संवत 1694 में विशाल पंचकल्याणक प्रतिष्ठा कराने वाले नानूगोधा भी महाराजा मानसिंह के आमात्य थे तथा सदैव मानसिंह के साथ रहते थे। बंगाल विजय, अफगानिस्तान युद्ध में उनके साथ रहकर वहां जैन प्रतिमाएँ भी विराजमान कीं जो आज भी उपलब्ध होती हैं।

ग्रन्थ के अंत में लेखक प्रशस्ति अत्यंत महत्वपूर्ण एवं ऐतिहासिक तथ्यों का दिग्दर्शन कराने वाली है। इसमें जयपुरनगर, राजा का नाम तथा छाजूलाल साह की वंशावली तथा चौधरियों के चैत्यालय (मन्दिर) में प्रति लिखवाकर विराजमान करने का उल्लेख है–

लेखक प्रशस्ति

जंबूदीप दीप सिणगार, षटखंड तामाही विस्तार।
जामै आरिजखंडमहान, तामद्धिदेस ढुंढाहरजान।। 103।।

जै नगर सोभा अतिसार, राज करै जैसिंध अवतार।
ईतिभीति जैठै कहु नाहि, जिन मन्दिर सोभाती छाहि।। 104।।

जैनधर्म को भलो उजास, जैनीजन को तहां है वास।
चोपडि बिचि तहां सोभासार, तामद्धि है आवैरि बजार।। 105।।

ताहा मन्दिर चोधरिपातणौ, रिखवदेव नेमीसुर भणे।
राजै और मूरति जिनतणी, दरसन करिपातै अघहरणि।। 106।।

नित्य पूजा जहां होय सुकाल, रातदिवस श्रुतबचै बिसाल।
सुणि नरनारी हर लहाय, आनंद उस में अति ही पाय।। 107।।

होली का चरित्र है सही जान, जामद्धि धर्म तणो व्याख्यान।
ताहिलिखाय चढायो सही, पुण्य तणी महिमा अति कही।। 108।।

दोहा

नावज मोतीराम को, जैतराम सुकहाय।
ताकै पुत्र जतीन है, नाव सुणो मन लाय।। 109।।

पहलो तो स्योलाल है, दूजो कालूराम।
तीजो मोहनराम है, जाति साह अभिराम।। 110।।

चौपई

जाकै पोता दोय सु सार, पहलो छाजूलाल विचार।
दूजो राजूलाल कहाय, गुण जाके वरणे नहिंजाय।। 111।।

सोरठा

बिचलो कालूराम सुरस लिखवायो भावसु।
चढवायो जिनधाम, पढो सुणो सब चावसु।। 112।।

चौपई

पोसवदि असटमिसुभबार, बार भलो जाणो सुक्रवार।
संवत अठारसै सुभ जाणि, ऊपर तीयासीज वखाणण।। 113।।

सोरठा

लिखियो कालूराम, पुस्तक बडा जु भावसु।
चढवायो जिनधाम, पढो सुणो भवि चावसु।। 113।।

दोहा

मंगल पंच परम गुरसही, मंगल राज-पिरजा लही।
पढै सुणै तिण मंगलकही, सबके मंगल जेतै मही।। 114।।

।। इति होली की कथा संपूरण ।।

छाजूलाल जी साह जयपुर में राज्य के सम्मानीय पद पर आसीन थे। उनके नाम से किशनपाल बाजार में गोदीकों के रास्ते में छाजूलाल साह की गली प्रसिद्ध है जिसमें आज भी उनकी विशाल हवेली मौजूद है तथा उनके वंशज श्री हरिशचन्द्रजी एवं कैलाशजी साह रह रहे हैं। छाजूलाल जी की बनवायी एक विशाल नसियां व कुआ दौसा जिला के सैंथल गांव में आज भी मौजूद नसियां में मन्दिर भी बना हुआ है।

कथा की नायिका 'होलिका' है जो नगर सेठ मनोहर एवं लक्ष्मी मति सेठानी की अंतिम चौथी पुत्री है। विवाह के 4-5 दिन पश्चात् ही वैधव्य का पहाड़ टूट पड़ा। पिता अपने घर ले आता है—बहुत दुखी होता है—नीति शास्त्र भी कहते हैं—

पुत्रोपि मूर्खो विधवा च कन्या, शठं च मित्रं चपलं कलत्रं।
विनास काले च दरिद्रतां च, विनासिना पंच दंहति देहं।।

पति विहीन विधवा का जीवन अभिशाप है। यौवन में भरपूर होलिका ने एक दिन एक सेठ-पुत्र कामपाल (कंवर) को देख कामातुर हो उठी। उधर कामपाल भी इसे देख मिलने का निच्छल हो उठा। कामाग्नि से ज्वलित होलिका ने खाना पीना छोड़ दिया और बीमार हो गई। कोई चिकित्सक के बीमारी हाथ नहीं लगी। बीमारी की खबर सुन तपस्विनी के भेष में दूती ने किसी भी प्रकार की बीमारी को ठीक करने की नगर में घोषणा कराई। दुःखी पिता की प्रार्थना स्वीकार कर दूती घर गई। होलिका से नजर मिलाकर बीमारी का कारण जान लिया और प्रकट में कह दिया कि मेरे सामने कोई बीमारी मुश्किल नहीं है। इसे अवश्य ठीक कर दूंगी। दूती के पूछने पर होलिका ने बताया कि मुझे कामपाल से मिला दो—

सुणो वीनती मेरी, कामपाल की वांछाजेम।
करों उपाव कंवर पै जाइ, ज्योमनवांछित भोगकराइ।।
सुणि दूती विनवै तुम जोग, मेलौकुमरजाइ तुमरोग।।

दूती तत्काल कामपाल (कंवर) के यहां गई, वह भी होलिका के लिये बेचैन

था। दूती ने कंवर के मन की बात जानकर कहा कि सूर्य मन्दिर की जात (यात्रा) के बहाने होलिका का मिलन करा दूंगी।

दूती ने मनोरथ सेठ को पुत्री की बीमारी बताई तथा कहा कि सूर्य मन्दिर की जात (यात्रा) करने पर बीमारी मिटेगी। सेठ ने सूर्य मन्दिर ले जाने की स्वीकृति दे दी। दूती के साथ होलिका जात देने गयी तो कामपाल ने उसका हाथ पकड़ लिया। होलिका ने दूती से कहा— मैं विधवा हूँ-छूने योग्य नहीं हूं—मैं अग्नि में भस्म हो जाऊंगी—

'म्हारो हाथ छिवण नहि जोग, हूँ रंडापड किणविधि जोग'

दूती उसे पिता के घर ले गई—दूती के साथ सो रही होलिका ने सोचा कि दूती मेरी बदनामी कर देगी—अतः इसकी हत्या करूंगी—होलिका ने दूती को आग लगाकर मार दिया तथा आप स्वयं कंवर के साथ चली गई। मनोरथ सेठ ने समझा कि उसकी पुत्री जल गई।

दूती जलकर मरने से व्यंतरी हो गई और नगर वासियों को दुःखी किया। एक दिन दूती किसी के स्वप्न में आयी और कहने लगी—राज्य में सुख चाहते हो तो एक लंबी (ऊंची) लकड़ी के चारों ओर घास फूस लगाकर जलाओ और उस राख (भस्म) को मस्तक पर लगाओ इससे व्यंतरी शांत होगी यह कार्य फागुण शुक्लापूर्णिमा को ही होना है—

ऊँचे काष्ठ को ही होली नाम दिया गया है—यथा
काठ एक ऊँचो अणिज्यो होली नाम ताहिका जाणज्यो
घर आकार करउ सुदनाई फूसला कडी अधिकअणाई
काठ फूस भसम तजु करौ राख ले सिरमादि धरौ
थानै शांति हो इसी शप निश्चैकालिप्रजा की जाप।।
सुणी बात मन माहि धरैड़ सर्व सर्व पति निश्चै करउ
फागुण सुद 505 दिन होइ, होली बालणहो दिन जोइ।

नगर में व्याधि समाप्त होने पर कंवर होलिका के साथ कहीं अन्य प्रदेश में चला गया जहां काम क्रीडा में मग्न रहे। पर-स्त्री एवं पर-पुरुष के सेवन

के महापाप से दरिद्री हो गये। उसी नगर में वापस आये तथा मनोरथ सेठ की दूकान पर अपनी पसंद की साड़ी खरीदने गये। पुरानी पसंद के अनुसार साड़ी लेने पर पिता ने होलिका को पहिचान लिया और अपने घर ले गया—दोनों वही रहने लगे

कथा में कवि ने तत्कालीन सामाजिक स्थिति पर प्रकाश डालते हुए युवावस्था में विधवा की मनोदशा, बदनामी के डर से दूती की हत्या, पर-स्त्री गमन आदि बुराइयों पर प्रकाश डाला है तथा दुर्गति कारण महापाप बताया है।

जाडयं धियो हरति, सिञ्चति वाचि सत्यं,
मानोन्नतिं दिशति, पापमपाकरोति।
चेतः प्रसादयति, दिक्षु तनोति कीर्तिं,
सत्सङ्गतिः कथय किं न करोति पुंसाम्?।।

सज्जनों का सङ्ग मनुष्यों के बुद्धि की जड़ता को नष्ट करता है। वाणी में सत्य को सींचता है। सम्मान को वृद्धि देता है। पाप को दूर करता है। चित्त को प्रसन्न कर देता है। दिशाओं में यश को फैला देता है। कहिये, क्या नहीं करता?

मुगल साम्राज्य की अहिंसा इतिहास के पन्नों में

—सुरेशचन्द्र जैन, बारोलिया

भारतवर्ष में जैन समाज अपनी समर्पित निष्ठा एवं धर्माचरण के लिए इतिहास में प्रसिद्ध रहा है। जैन धर्मानुयायियों ने अपने आचरण एवं व्यवहार में एकरूपता का प्रदर्शन करके भारतीय समाज के सभी वर्गो का स्नेह अर्जित किया है। इतिहास में कुछ अपवाद भी होते हैं। कभी-कभी कठोर शासक सत्ता में आ जाते हैं और वे राजसत्ता का प्रयोग अपने धर्म प्रचार के लिए अन्य धर्मावलम्बियों की धार्मिक मान्यताओं पर प्रहार भी करते रहे हैं। जैन आचार्यों एवं मुनियों ने सदा से प्राणी मात्र के कल्याण के लिए अपना पावन सन्देश दिया है। हृदय की गहराई से निकली हुई भावना समादर की दृष्टि से देखी जाती है। मुसलमान जब भारत आये तब वे इस देश की परम्पराओं एवं मान्यताओं से परिचित नहीं थे। वे अपने विभिन्न जलवायु एवं भोगोलिक स्थिति के देश से आये थे। मांसाहारी होने के कारण मुस्लिम शासक पशु रक्षा के लिए इतने सचेष्ट नहीं थे जितने मुगल शासक थे। इस युग में मुगल शासक पूरी तरह से भारतीयता के रंग में रंग गये थे।

भारत में मुगल शासन की नीव डालने वाला बाबर बहुत ही उच्च चरित्र एवं उदार विचारो का शासक था। इतिहासकारो ने हिन्दु-मुस्लिम सांस्कृतिक एकता के इतिहास का विस्तृत वर्णन किया है। बाबर ने हुमायूं के लिए एक वसियतनामा लिखा था। **"भारत के अनेको भागों में सभी धर्मा के लोग निवास करते हैं। उनकी भावना का ध्यान रखना। गाय को हिन्दु पवित्र मानते है अतः गोवध नहीं करना तथा किसी के पूजा के स्थान को नष्ट नहीं करना।"** बाबर की इस वसियत का पालन अकबर-जहांगीर तथा शाहजहाँ ने भी किया था। इस निष्पक्ष नीति का पता पुर्तगाली यात्री सेवाश्चियन मानदिक के एक विवरण से पता चलता है। हुमायूं के पास 50

गायें थी। वह केवल गाय का दूध पीता था। उसने कभी गोमांस का भक्षण नहीं किया।

अकबर का शासनकाल :– मुगल सम्राट अकबर एक राष्ट्रीय शासक था। अकबर ने हिन्दी भाषा के अनेको कवियों को राज्याश्रय प्रदान किया दरबारी कवि यशोगान के साथ सतपथ पर चलने के लिए भी प्रेरित करते थे। उस समय जैन सन्त भी अपने आचार-विचार एवं चारित्रक शुद्धता के कारण विश्व में माने जाते थे। यही कारण है समय-समय पर अनेको राजाओं एवं बादशाहों ने विभिन्न जैनाचार्यो से प्रतिबोध पाकर अपने जीवन को धन्य ही नहीं किया बल्कि जनहित में ऐसे कार्य भी किये जो इतिहास के पन्नो में स्वर्ण अक्षरों में अंकित हो गये हैं। इतिहास के पन्नो को पलट कर देखें तो हमारे पूर्वचार्यो में आचार्य सुहस्तिसूरि ने सम्प्रति राजा को आचार्य सिद्धसेन दिवाकर ने विक्रमादित्य और कलिकाल सर्वज्ञ हेमचन्द्र ने कुमारपाल राजा को प्रभावित किया इस प्रकार अनेको मुनियों ने विभिन्न मुगल राजाओं पर अपना प्रभाव डालकर उनका जीवन परिवर्तन कर जैनधर्म की प्रभावना की है। यदि सभी पर प्रकाश डाला जाये तो ग्रन्थ के ग्रन्थ तैयार हो जायेंगे लेकिन हम यहाँ आगरा से जिसका विशेष सम्बन्ध रहा है ऐसे सम्राट अकबर का उल्लेख करते हैं।

आगरा में अकबर पर किस प्रकार जैन धर्म का प्रभाव पड़ा उसका एक रोचक किस्सा है। अकबर राजमहल में बैठा राजमार्ग का निरीक्षण कर रहा था। मार्ग में जैनधर्म की जयकारो के साथ एक जुलूस निकल रहा था। राजा ने टोडरमल से जानकारी की। टोडरमल ने बताया कि एक जैन महिला चम्पा नाम की है उसने छह महिने का व्रत-उपवास किया है। केवल रात्री से पूर्व गर्म जल के सिवा कुछ भी खाया-पिया नहीं है। उसके उपवास के 5 माह हो चुके हैं। आज जैनधर्म का कोई विशेष पर्व होने के कारण उत्सव के साथ जिन मन्दिर में दर्शन हेतु जा रही है। राजा को इतनी कठोर साधना का विश्वास नहीं हुआ। उसने परीक्षण हेतु चम्पा बहिन की पालकी को राजमहल में लाने की आज्ञा दी थी। उसने उस महिला की आकृति की परीक्षा की थी। उसका तेजस्वी मुख देखकर तपस्या के विषय में काफी कुछ सत्यता प्रतीत होने पर भी उसकी पूरी परीक्षा करने के लिए एक मास तक अपने एकान्त महल में

पूर्ण सुरक्षा के साथ रहने की आज्ञा दी तथा अपने सेवको को चम्पा बहिन की दिनचर्या के बारे में पूर्ण जानकारी देने का आदेश दिया। एक माह बाद राजा को उसके आचरण का पता चला। बादशाह आश्चर्यचकित हो गया तथा चम्पा बहिन से पूछा तुम ऐसा क्यों करती हो। उसने कहा मैं अपने आत्मकल्याण हेतु गुरु के आदेशो से करती हूँ तब से अकबर ने जैन गुरुओं से सम्पर्क किया। बस यहीं से अकबर के मन में जैन आचार्यो के दर्शन की जिज्ञासा हुई। उनको आगरा आने का निमन्त्रण दिया। उस समय अहमदाबाद में हरिविजय सूरी विराजमान थे। राजा के अनुरोध पर ज्येष्ठ सुदी 13 संवत् 1634 (सन् 1582) को आचार्य हरिविजयसूरि फतेहपुरसीकरी पहुँच गये। वह 13 विद्वानों के साथ अकबर के दरबार में पधारे। बादशाह ने रत्नजड़ित सिंहासन पर बैठने के लिए अनुरोध किया। आचार्य ने कहा जैन शास्त्रों में केवली (सर्वज्ञ) द्वारा अहिंसा वादियो के लिए वस्त्र आदि पर पाँव रखने की भी मनाही है। हमारा आचरण देखकर चलना व बैठना है। जिससे किसी जीव को दुःख ना हो। जीवो के प्रति ऐसी दया देखकर राजा आश्चर्य में पड़ गया। उसने मन में सोचा कि रोज सफाई होती है जीव नहीं हैं उसने गलीचे को थोड़ा उठाया तो चींटिया दिखाई दीं। त्यागियों के लिए वस्त्र तथा धातु को स्पर्श करना आचरण के विरूद्ध है। गुरु वह होते है जो पाँच महाव्रतो का सत्य, अहिंसा, आचार्य, ब्रहमचर्य और अपरिग्रह का पालन करते हैं तथा स्वभाव रूप सामयिक में हमेशा लीन रहते है। जनता को धर्म का उपदेश तथा जनकल्याण की बातों से अवगत कराते हैं। वह किसी वाहन गाड़ी-घोडा, रथ, ऊँट का भी उपयोग नहीं करते। मन-वचन-काया से किसी जीव को कष्ट नहीं पहुँचाते तथा 5 इन्द्रियों को वश में करते हैं। सम्राट से अहिंसा, दया के बारे में चर्चा हुई। हिंसा व मांसाहार करने वाला पाप का भोगी होता है। मारने वाला, मांस खाने वाला, पकाने वाला, बेचने वाला, खरीदने वाला, अनुमति देने वाला ये सभी पाप के भागीदार होते हैं। अहिंसा के बारे में विस्तार से चर्चा हुई। शंका समाधान हुआ। इससे अकबर के ऊपर गहरा प्रभाव पड़ा अकबर ने विशुद्धता एवं चारित्र से प्रभावित होकर आचार्यो से आगरा में ही चार्तुमास करने का अनुरोध किया।

पर्युषण के दिन निकट आने पर प्रमुख श्रावक बादशाह के पास गये, उन्होंने पर्युषण के दिनों में जीव हिंसा निषेध का निवेदन किया। बादशाह ने हिंसा बन्द करने का फरमान लिख दिया। **सम्वत् 1634 (सन् 1582) में पर्यूषण के दिनों जीव हत्या पर रोक लगा दी। अकबर ने पिंजडो में बन्द पक्षियों को मुक्त कर दिया। फतेहपुरसीकरी के डावर तालाब में मछलिया ना पकडने का आदेश दिया।** अकबर को जैन सन्तो के चारित्र, विशुद्धता ने इतना प्रभावित किया कि जो शासक सवासेर चिड़ियों की जीभ प्रतिदिन खाया करता था; उसने मांसाहार का त्याग कर दिया।

बादशाह अकबर और कविवर पं. बनारसीदास :– कविवर बनारसीदास बादशाह अकबर के स्नेहपात्र थे। कविवर बनारसीदास ने अपनी आत्मकथा में लिखा है कि अकबर की मृत्यु का समाचार सुना तो वह बेहोश हो गये। जनता में हाहाकार मच गया। यह तथ्य उस सम्राट की लोकप्रियता का सूचक था। एक ऐतिहासिक तमिल ग्रन्थ में लिखा है बनारसीदास द्वारा सदुपदेश देने से भी अकबर काफी प्रभावित हुआ था। ग्रन्थ में लिखा है– अकबर के राज्यकाल में आगरा में बनारसीदास नाम के एक गृहस्थ रहते थे। राजा ने उनको दरबार में बुलाया और कहा कि मैं तुम्हारे साधु जीवन से बहुत प्रभावित हूँ। तुम अपनी इच्छा से कुछ मांग लो। उनका उत्तर था कि परम ब्रह्मा ने (भाग्य ने) मुझको आवश्यकता अनुसार से ज्यादा दिया है मुझे कोई जरूरत नहीं है। अकबर ने बार-बार कुछ मांगने का आग्रह किया। बनारसीदास ने कहा कि यदि देना है तो मेरी प्रार्थना है कि मुझे फिर कभी इस राजमहल में ना बुलायें। मेरा समय भगवान की भक्ति आत्म चिन्तन में लगा रहे। राजा ने कहा ऐसा ही होगा। लेकिन एक प्रार्थना है कि आप मुझे कुछ सदुपदेश दीजिये जिन्हें मैं स्मरण कर अनुसरण कर सकूं। बनारसीदास कुछ क्षण विचार कर कहने लगे देखिये "आपका भोजन स्वास्थ्यकर एवं स्वच्छ शुद्ध हो और विशेषकर रात का ध्यान रखें। खाद्य एवं पीने के ऊपर विशेष ध्यान दें। अकबर ने उसे सदैव याद रखने का वचन दिया। जिस दिन उपदेश दिया वह दिन रोजे उपवास का था। राजमहल में संध्या के समय नाना प्रकार के व्यंजन सोने-चाँदी के थालो में सजा कर रखे गये थे। अकबर के सामने रात्री शेष

रहने पर भोजन परोसा गया। अकबर को भोजन करते समय बनारसीदास का उपदेश याद आ गया। उसने भोजन की थाली सतर्कतापूर्वक देखी। उसमें लाल चींटी का झुण्ड पाया। यह लाल चीटियां उसके भोजन में प्रवेश कर गई। उसने भोजन की थाली वापिस कर दी। इस घटना के द्वारा उसको जो मूल्यवान उपदेश मिला, उसके मन में जीवदया की भावना बढ़ गई। बनारसीदास अकबर को केवल लाल चीटिंयों के बारे में उपदेश देते सो नहीं वह विशेष रूप से आहार के भी जो शरीर और मन को विकृत करे विरूद्ध थे।

अकबर पर जैनधर्म का प्रभाव-विश्वास :– एक बार की घटना है कि अकबर के सिर में भयानक दर्द हुआ। उसने वैद्य-हकीमों को नहीं बुलाया। उसने जैन यतिजी को बुलवाया। उन्होंने सिर पर हाथ रखा, मंत्रोचार किया और सिर का दर्द दूर हो गया। इस खुशी में दरबारियों ने पशुओं की कुर्बानी करके खुशी मनाने का कार्यक्रम रखा। पशुओ को एकत्रित किया गया। राजा को जानकारी हुई कि मेरे सिर के दर्द के ठीक होने पर कुर्बानी द्वारा खुशी मनाई जावेगी। उसने रोक लगा दी पशु छोड़ दिये। आदेश दिया मेरे सिर के दर्द के ठीक होने की खुशी है मैं सुखी हूं, पर इस खुशी से दूसरे प्राणियों को दुःख पहुँचे यह अनुचित है। यह कार्य गलत है। इसी प्रकार की एक घटना और है। अकबर के दरबार में मुनि शान्तिचन्द जी विराजमान थे और अगले दिन ईद व बकरा ईद जो मुसलमानो का प्रमुख त्यौहार आने वाला था। मुनि शान्तिचन्द ने राजा से कहा कि मैं कल किसी अन्य स्थान पर जाऊँगा। क्योंकि ईद पर हजारो पशुओं का वध होगा उनकी बलि चढ़ाई जावेगी। मुनि ने कुरान की आयतों से सिद्ध कर दिया कि कुर्बानी का मांस व खून खुदा को नहीं जाता है वह हिंसा से कभी प्रसन्न नहीं होता है। राजा ने घोषणा कर दी ईद पर पशु हत्या नहीं होगी। सन् 1592 में उसने जिनचन्द सुरि को खम्भात कच्छ की खाड़ी से बुलाया वह लाहौर पधारे, स्वागत किया और उनके कहने से उसने आदेश निकाला कि खम्भात की खाड़ी में मछली पकड़ने पर प्रतिबन्ध रहेगा तथा आष्टनिका पर्व पर पशुवध का निषेद्य किया।

अकबर के शासनकाल में जैनेतर कवि नरहरि थे उन्होंने अपने समय में गोरक्षा का अभियान चला दिया था। सम्राट अकबर का ध्यान आकर्षित करने

के लिए एक दिन उन्होंने एक गाय को लाकर खड़ा कर दिया था और सम्राट की फरियाद स्थल पर प्रस्तुत की। नरहरि कवि की वाणी में गाय की पीड़ा के भाव थे। जिसे सुनकर अकबर का हृदय पसीज गया उसने तुरन्त ही देशव्यापी गोवध निषेध की आज्ञा प्रसारित कर दी और गौ-हत्या करने वालों को मृत्युदण्ड देने की घोषणा कर दी। अबुलफजल ने आइने अकबरी नामक पुस्तक के भाग 1 पृष्ठ 193 पर इसका स्पष्ट उल्लेख किया है।

अकबर के बाद जहाँगीर व शाहजहाँ ने भी पशु हत्या निषेध की नीति को जारी रखा। खानदान मुगलिया के शहनशाह जहाँगीर का ईद के मौके पर शाही फरमान जारी किया। आज से 398 साल पूर्व 26 फरवीर सन् 1605 को जैनधर्म के माह भादो के बारे में फरमाने जहाँगीर जारी किया गया जिसकी असली नकल अन्त में दर्शायी गई है जहाँगीर ने अपने पिता की पशु-हत्या की नीति का अनुसरण किया। अपने आत्म चरित्र तुंजुके जहाँगीर के अनुसार उसने राज्यधिकार प्राप्त होते ही घोषणा कर दी थी। सप्ताह में एक दिन ऐसे होंगे जिनमें पशुवध का निषेध होगा। मेरे राज्यभिषेक के दिन गुरुवार को तथा रविवार को जन्मदिन के दिन कोई मांसाहार नहीं करेगा। मेरे पिता ने 11 वर्षों तक इस नियम का पालन किया अतः मैं भी जीव हिंसा निषेध की घोषणा करता हूँ। गुजरात में जैनो की प्रार्थना पर जीव हिंसा निषेध के कई फरमान जारी किये। जहांगीर के उत्तराधिकारी शाहजाहाँ के समय में भी पशुहिंसा निषेध की नीति का पालन होता था उसका एक उदाहरण इस बात को प्रमाणित करता है। शाहजाहाँ की इस निष्पक्ष नीति का पता पुर्तगाली यात्री वश्चियन मानदिक के एक विवरण से पता चलता है। शाहजहाँ के एक मुस्लिम अफसर ने एक मुसलमान का दाहिना हाथ इसलिए काट दिया था क्योंकि उसने दो मोर पक्षियों का शिकार किया था। बादशाह की आज्ञा थी कि जिन जीवों का वध करने से हिन्दुओं को ठेस पहुँचती है उनका वध नहीं किया जाये। ऐसे धर्म निरपेक्ष शाहजहाँ ने सन् 1732 में भी ऐसा ही फरमान जारी किया था।

शाहजहॉ के बाद औरंगजेब गद्दी पर बैठा यद्यपि वह कट्टर कठोर मुसलमान था अनेको मन्दिरों को तोड़ा, नष्ट किया फिर भी पशु हिंसा

निषेध की नीति में जो शाहदयाल मंत्री का आदेश निकला था उसमें लिखा था कि :–

(1) प्राचीनकाल से जैनियों के मन्दिर और पूजा के स्थानो को अधिकार मिला हुआ कोई मनुष्य उनकी सीमा (हद) में जीववध न करे यह उनका पुराना हक है।

अंतिम मुगल सम्राट बहादुरशाह जफर के समय गौहत्या करने वालो को प्राण दण्ड देने की व्यवस्था थी। अंग्रेजो द्वारा प्रकाशित प्रेस लिस्ट तथा तारीखे अरूजे सल्तनते इंग्लिशिया नामक ग्रन्थ के पेज 688 पर स्पष्ट अंकित है कि सुप्रसिद्ध विद्वान् मौलाना फजले हक खैरावादी ने बहादुर शाह के प्रशासन के लिए जो संविधान तैयार किया था उसकी प्रथम धारा यह थी कि बादशाह के राज्य में कहीं भी गाय जिवाह न की जाये। उस समय प्रसिद्ध खवरनवीस जीवनलाल ने अपनी बहुचर्चित डायरी में दिनांक 28 जुलाई 1857 को उल्लेख किया कि बादशाह ने सेना के अधिकारियों के पास भी इस आशय के पत्र भेजे थे कि ईद के अवसर पर कोई गाय जिवाह न हो यदि किसी ने ऐसा किया तो तोप से उड़ा दिया जायेगा तथा गोवध के लिए प्रोत्साहित करने वाले को प्राण दण्ड दिया जावेगा। सेनापति के आदेश से शहर कोतवाल द्वारा शहर में ढिंढोरा पिटवा दिया था कि कोई भी गाय की हत्या नहीं करेगा। शहर की नाकेबन्दी की गई। बकरा ईद के तीन दिन तक शहर में गाय-बैल बेचने के लिए न लाये जायें। जो गाय को छिपाकर वध करेगा उसे मौत की सजा दी जावेगी। जिनके घर गाय है उनसे मुचलके ले लिए जाए कि वे गायो का वध नहीं करेंगे। इसकी जाँच भी की जावे। गाय न मिलने पर व्यक्ति को मृत्यु दण्ड दिया जावे। प्रेस लिस्ट ऑफ म्युनिटी पेयर्स 61 संख्या 245 पर अंकित था–

वर्तमान में 1938 में निजाम हैदराबाद ने अपने राज्य में गाय व ऊँट की कुर्बानी करना कानूनन बन्द कर दिया था। सन् 1890 में माननीय मिस्टर हचिनसन ने भारतीय कौसिंल में पशु निर्दयता निवारण बिल पेश किया था। सितम्बर 1938 में भारत की लेजिंसलेटिव असेम्बली ने पशु निर्दयता कानून में

भी संशोधन किये थे जिससे पशुओ को अधिक कष्ट ना हो। आज भी जैन मन्दिरो में प्रायः कबूतरो को चारा डाला जाता है हमारा उनके प्रति एक विशेष कर्तव्य है। विदेशो में मांसाहारी हैं किन्तु प्रयोगशाला को छोड़कर अन्यत्र पशुओं को यंत्रणा पहुँचाकर नहीं मारा जाता है। पशुओं के ऊपर निर्दयतापूर्ण व्यवहार करने के विरूद्ध कानून बने हुये है। जुर्माना भी किया जाता है तथा जेल जाने तक का दण्ड भी दिया जाता है। अमेरिका में दयाभाव प्रदर्शित करने का प्रयास रेडियो, टी.वी, समाचार पत्र लेखन कार्य आदि से होते हैं अनेको संस्थायें कार्यरत हैं। अमेरिकन रैवरेड डाक्टर हानपेनहालटीस ने तो जीवदया पर एक हजार से अधिक कवितायें लिखी हैं।

भारत यह दावा करता है कि वह संसार के सबसे बड़े धर्मो का जनक है। जिसका आधार प्रेम और अहिंसा है। किन्तु जीवदया के प्रेमी जैन और बौद्धधर्म की जन्मभूमि होते हुये भी जीव रक्षा के लिए जो कुछ विदेशो में किया जा रहा है भारत में अभी उसकी छायाँ भी देखने को नहीं मिलती है। बल्कि दिनोदिन वृद्धि हो रही है। हमारा नैतिक दायित्व है कि हम पशुरक्षा हेतु सक्रिय रूप से कार्यरत रहें।

संदर्भ सूची

1. जैन इतिहास के ऐतिहासिक महिला एवं पुरूष, 2. अर्थकथानक–कविवर बनारसीदास
3. आगरानामा, 4. अभिनन्दन ग्रन्थ–श्री सुनहरीलाल जैन

बी-677, कमला नगर, आगरा
दूरभाष : 0562-2181645

पं. नाथूराम प्रेमी के साहित्य में दलितोत्थान के स्वर

—डॉ. सुरेन्द्रकुमार जैन

दलित शब्द से सामान्यतया उस व्यक्ति, वर्ग या जाति का बोध होता है, जो सदियों पद-दलित, शोषित, अत्याचार का शिकार, पीड़ित, दबी कुचली, असहाय, दरिद्र और निर्धन तथा विपन्न रही हो। पं. नाथूराम प्रेमी ने इसके विषय में भी सोचा, समझा और अन्वेषण किया है। उनकी प्रसिद्ध पुस्तक 'जैन साहित्य और इतिहास' में परिग्रह परिमाण व्रत में दासी-दास नामक एक लेख है। यह लेख महत्त्वपूर्ण है। इसमें वे कहते हैं कि प्राचीनकाल में सारे ही देशों में दास-प्रथा या गुलाम रखने का चलन था और वह भारतवर्ष मे भी था। इस देश के अन्य प्राचीन ग्रन्थों के समान जैन ग्रन्थों में भी इसके अनेक प्रमाण मिलते हैं। जैनधर्म के अनुसार बाह्य परिग्रह के दस भेद हैं—

बहिरसंगा खेत्तं वत्थं धनधण्णकुप्यभंडानि।
दुपय चउप्पय जाणाणि चेव सयणासहे य तहा।। —भगवती आराधना 112

विजयोदया टीका में इसका अर्थ किया है—

"बहिरसंगा बाह्यपरिग्रहाः। खेत्तं कर्षणाधिकरणं। वत्थं वास्तुगृहं। धणं सुवार्णादिः। धान्यं बीहयादिः। कुप्य। कुप्यं वस्त्रं। भंड-भाणशब्देन हिंगुभरिचादिकमुच्यते। द्विपदशब्देन दासदासीमृत्यवर्गादिः। चउप्पय गजनुरगादयः चतुष्पदाः। जाणदि शिविकावियानादिकं यानं। सयणासणे शयन्ननि आसनानिच।"

खेत, वास्तु (मकान), धन (सोना, चॉदी), धान्य (चावक, गेहूँ आदि) कुप्य (कपड़े), भाण्ड (हिंग मिर्चादि मसाले), द्विपद (दो-पाये दास-दासी, चतुष्पद चौपाये हाथी, घोड़े आदि), यान (पालकी, विमान आदि) शयन (बिछौने) और आसन ये बाह्य परिग्रह हैं।

लगभग यही अर्थ आशाधर और अमितगति ने भी अपनी टीकाओं में

किया है इन दस में से द्विपद और चतुष्पद अर्थात् दोपाये और चौपाये शब्दों पर ध्यान दीजिए। ये दोनों परिग्रह हैं। जिस तरह सोना, चाँदी, मकान, वस्त्र आदि चीजें मनुष्य की मालिकी कीं समझी जाती है, उसी तरह दोपाये और चौपाए जानवर भी। चौपाए तो खैर अब भी मनुष्य की जायदाद में गिने जाते हैं, परन्तु पूर्वकाल में दास-दासी भी जायदाद के अन्तर्गत थे। पशुओं से इनमें यही भिन्नता थी कि उनके चार पाँव होते हैं और इनके दो। पाँचवें परिग्रह-त्याग व्रत के पालन में जिस तरह और सब चीजों के छोड़ने की जरूरत है, उसी तरह इनकी भी। परन्तु शायद इन द्विपदों को स्वयं छूटने का अधिकार नहीं था। दास-दासियों का स्वतन्त्र व्यक्तित्व कितना था, इसके लिए देखिए–

सच्चित्ता पुण गंथा बंधदि जीवे सयं च दुक्खंति।
पावं च तण्णिमित्तं परिग्गहं तस्स से होई।। 1162।।

विजयोदया टीका– सच्चित्ता पुण गंथा बंधति जीवे गंथा परिग्रहः दासीदास गोमहिष्यादयो हनन्ति जीवान् स्वयं च दुःखिता भवन्ति। कर्मणि नियुज्यमानाः कृष्यादिके पापं च स्वपरिगृहीतजीवकृतसंयमनिमित्तं तस्य भवति।

अर्थात्– जो दासी, दास, गाय, भैंस आदि सचित्त परिग्रह हैं, वे जीवों का घात करते हैं और खेती आदि कामों में लगाए जाने पर स्वयं दुःखी होते हैं। इनका पाप इनके स्वीकार करने वाले मालिकों को होता है; क्योंकि मालिकों के निमित्त से ही वे जीववधादि करते हैं। इससे स्पष्ट है कि उनका स्वतन्त्र व्यक्तित्व एक तरह से था ही नहीं, अपने किए हुए पुण्य-पाप के मालिक भी वे स्वयं नहीं थे। अर्थात् इस तरह के बाह्य परिग्रहों में जो दास-दासी परिग्रह हैं, उसका अर्थ नौकर नौकरानी नहीं, जैसा कि आजकल किया जाता है, किन्तु गुलाम है। इस समय नौकर का स्वतन्त्र व्यक्तित्व है। वह पैसा लेकर काम करता है गुलाम नहीं होता।

कौटिलीय अर्थशास्त्र में गुलाम के लिए दास और नौकर के लिए कर्मकर शब्दों का व्यवहार किया गया है। अनगार धर्मामृत अध्याय 4 श्लोक 121 की टीका में स्वयं आशाधर ने दास शब्द का अर्थ किया है–'दासः क्रयक्रीतः

कर्मकरः' अर्थात् खरीदा हुआ काम करने वाला। पं. राजमल ने लाटी संहिता में छठे सर्ग में लिखा है–

दासकर्मरता दासी क्रीता वा स्वीकृता सती।
तत्संख्या व्रतशुद्धयर्थं कर्तव्या सानतिक्रमात्।। 105।।

अर्थात्– दास कर्म करने वाली दासियाँ, चाहे वे खरीदी हुई हों और चाहे स्वीकार की हुई, उनकी संख्या भी व्रत की शुद्धि के लिए बिना अतिक्रम के नियत कर लेनी चाहिए। इसी तरह दासों की भी............

आगे और भी लिखा है–

देवशास्त्रगुरुन्नत्वा बन्धुवर्गात्मसाक्षिकम्।
पत्नी परिग्रहीता स्यादन्या चेटिका मता।।

अर्थात् जिसके साथ विधिपूर्वक देव, शास्त्र, गुरु को नमन करके बन्धुजनों के समक्ष ब्याह किया गया हो, वह पत्नी और उससे भिन्न चेटिका मानी गई है या दासी। आगे स्पष्ट किया है–

पाणिग्रहण शून्या चेच्चेटिका सुखप्रिया।। 184
चेटिका भोगपत्नी च द्वयोर्भोगांगमात्रकः।। 185

अर्थात् चेटिका सुखप्रिया होती है और वह केवल भोग की चीज है। इससे मालूम होता है कि काम करने वाली दासियाँ खरीदी जाती थीं और उनमें से कुछ स्वीकार भी कर ली जाती थीं। स्वीकृता का अर्थ शायद रखैल है। यशस्तिलक में सोमदेव ने लिखा है–

वधू वित्तस्त्रियौ मुक्त्वा सर्वमन्यत्र तज्जने।
माता श्वसा तनूजेति मतिर्ब्रह्म गृहाश्रमे।।

अर्थात् पत्नी और वित्त-स्त्री को छोड़कर अन्य सब स्त्रियों को माता, बहिन और बेटी समझना ब्रह्मचर्याणुव्रत है। वित्त का अर्थ धन होता है, इसलिए वित्त स्त्री से तात्पर्य धन से खरीदी हुई दासी होनी चाहिए। इसका अर्थ वेश्या भी किया जाता है, परन्तु वास्तव में दासी अर्थ ही अधिक उपयुक्त है।

शब्द-कोशों में वेश्या के वारयोषित, गणिका, पण्यस्त्री आदि नाम मिलते हैं, जिनके अर्थ समूह की, बहुतों की या बाजारू औरत होता है, पर धनस्त्री या वित्त-स्त्री जैसा नाम कहीं नहीं मिला। गृहस्थ अपनी पत्नी और दासी को भोगता हुआ भी चतुर्थ अणुव्रत का पालक तभी माना जा सकता है, जब दासी गृहस्थ की जायदाद मानी जाती है।

जो लोग इस व्रत की उक्त व्याख्या पर नाक भौंह सिकोड़ते हैं वे उस समय की सामाजिक व्यवस्था से अनभिज्ञ हैं, जिसमें कि दासी एक परिग्रह या जायदाद थी। अवश्य ही वर्तमान दृष्टि से जबकि दास प्रथा का अस्तित्व नहीं रहा और दासी किसी की जायदाद नहीं रही, ब्रह्मचर्याणु में उसका ग्रहण निषिद्ध माना जाना चाहिए।

पं. नाथूराम प्रेमी ने कौटिलीय अर्थशास्त्र के 'दास कल्प' नामक अध्याय का उद्धरण दिया है, जिससे ज्ञात होता है कि दास-दासी खरीदे जाते थे, गिरवी रखे जाते थे और धन पाने पर मुक्त कर दिए जाते थे। दासियों पर मालिक का इतना अधिकार होता था कि वह उनमें सन्तान भी उत्पन्न कर सकता था और सन्तान होने पर वे गुलामी से छुट्टी पा लेती थीं। देखिए—

स्वामिनोऽस्या दास्यां जातं समातृकमदासं विद्यात्।। 32।।
गृह्या चेत्कुटुम्बार्थचिन्तनी माता भ्राता भगिनी चास्याः दास्याः-स्युः।। 33

—धर्मस्थीय, तीसरा अधिकरण

अर्थात् स्वामी या मालिक से उसकी दासी में सन्तान उत्पन्न हो जाय तो वह सन्तान और उसकी माता दोनों ही दासता से मुक्त कर दिए जाँए। यदि वह स्त्री कुटुम्बार्थचिन्तनी होने से ग्रहण कर ली जाए, भार्या बन जाए तो उसकी माता, बहिन और भाईयों को भी दासता से मुक्त कर दिया जाए।

मनु स्मृति में सात प्रकार के दास बतलाए गए हैं—

ध्वजाहृत (संग्राम में जीता हुआ) भुक्तदास (भोजन के बदले रखा हुआ) गृहज (दासीपुत्र), क्रीत (खरीदा हुआ,) दत्रिम (दूसरे का दिया हुआ), पैतृक (पुरखों से चला आया) और दण्डदास (दण्ड के धन को चुकाने के लिए जिसने

दासता स्वीकार की हो) याज्ञवल्क्य स्मृति के टीकाकार विज्ञानेश्वर (12वीं सदी) ने पन्द्रह प्रकार के दास बतलाए हैं। पूर्वकाल में भारत में दासी-दासों का क्रय विक्रय होता था। भले ही अमेरिका, यूरोप के समान गुलामों पर उतने भीषण अत्याचार न होते हों, जिनका वर्णन पढ़कर रोंगटे खड़े हो जाते हैं। फिर भी इस बात से इन्कार नहीं किया जा सकता कि भारतवर्ष में गुलाम रखने की प्रथा थी और उनकी हालत पशुओं जैसी थी। सन् 1855 में ब्रिटिश पार्लियामेण्ट ने एक नियम बनाकर इसे बन्द कर दिया गया। सन् 1860 में 'इण्डियन पैनल कोड' में गुलाम खरीदना, बेचना अपराध ठहराया गया।

प्रेमी जी ने एक पुराना दासी विक्रय पत्र का उद्धरण दिया है। यह 1288 की एक दस्तावेज है। इससे ज्ञात होता है कि राजा लोग युद्धकर स्त्रियों को दासी रूप में लूटकर लाते थे और उन्हें चौराहे पर खड़ी करके बेचते थे। मारपीट से तंग आकर यदि वे आत्महत्या कर लेती थी तो उसका मालिक केवल गंगास्नान कर शुद्ध हो जाता था। ऐसी दासी को दूसरे जन्म में कुत्ती या चाण्डाली के रूप में जन्म लेना पड़ता था।

इस प्रकार अनेक उद्धरण देकर प्रेमी जी ने प्राचीन भारत और विश्व में दास प्रथा का भयावह चित्र खींचा है। इससे उस समय के लोगों की मानसिक स्थिति और कुत्सित रिवाज का पता चलता है। आधुनिक युग में यह दास प्रथा अपने बदले हुए अनेक रूपों में प्राप्त होती है। इसे दूर करने का प्रयास किया जा सकता है। मानवीय अधिकार आयोग का गठन होना, विभिन्न सहकारी सोसायटी का गठन होना, अनेक जनकल्याण की राजकीय योजनायें इस दिशा में अच्छा कदम है। दास प्रथा का मार्मिक चित्रण किए जाने का उद्देश्य दलितोत्थान को स्वर प्रदान करता है।

शूद्रों के लिए जिनमूर्तियाँ– प्रायः जैन मन्दिरों के शिखरों पर और दरवाजो की चौखटों पर जिनमूर्तियाँ दिखलाई देती हैं। उनके विषय में कुछ सज्जनों ने कुछ ही समय से यह कहना शुरू किया है कि उक्त मूर्तियाँ शूद्रों और अस्पृश्यों के लिए स्थापित की जाती रही हैं, जिससे वे मन्दिरों में प्रवेश किए बिना बाहर से ही भगवान् के दर्शनों का सौभाग्य प्राप्त कर सकें। यह बात कहने सुनने

में तो बहुत अच्छी मालूम पड़ती है, परन्तु अभी तक इस विषय में किसी शिल्पशास्त्र, प्रतिष्ठा पाठ या पूजा प्रकरण का कोई प्रमाण उपस्थित नहीं किया गया है और यह बात कुछ समझ में नहीं आती कि जो लोग दर्शन-पूजन पाठादि के अधिकारी ही नहीं माने जाते हैं, उनके लिए शिखरों पर या द्वारों पर मूर्तियाँ जड़ने का परिश्रम क्यों आवश्यक समझा गया होगा? यदि शूद्रों या अस्पृश्यों को दूर से दर्शन करने देना ही अभीष्ट होता और उनके आने जाने से मन्दिरों का भीतरी भाग ही अपवित्र होने की आशंका होती, तब तो मन्दिरों के बाहर या दीवारों में या आगे खुले चबूतरों पर ही मूर्तियाँ स्थापित कर दी जातीं। ऐसा प्रबन्ध कर दिया जाता, जिससे वे समीप आए बिना दूर से ही वन्दन कर लेते। इसके सिवाय जो लोग इन अभागे प्राणियों को दूर से दर्शन करने देने में कोई हानि नहीं समझते हैं, उन्होंने क्या कभी यह भी सोचा है कि दूर से दर्शन करने वाले उक्त प्रतिमाओं के उद्देश्य से पुष्पादि भी तो चढ़ा सकते हैं। तब क्या दूर से किया हुआ पूजन पूजन नहीं कहलायगा? और क्या मन्दिर मूर्ति से भी अधिक पवित्र होता है?

मेरी समझ में तो शिखर या द्वार पर जो मूर्तियाँ रहती हैं, उनका उद्देश्य केवल यह प्रकट करना होता है कि उस मन्दिर में कौन सा देव प्रतिष्ठित है अर्थात् वह किस देवता का मन्दिर है। वास्तव में वह मुख्य देव का संक्षिप्त चिन्ह होता है, जिससे लोग दूर से ही पहचान जाए कि यह अमुक मन्दिर है।

इस लेख में प्रेमी जी ने एक समाधान करने के साथ साथ शूद्र कहे जाने वाले व्यक्तियों के प्रति सहानुभूति भी व्यक्त की है। यद्यपि स्पष्ट रूप से यह नहीं कहा है कि शूद्र प्रतिमा दर्शन कर सकते हैं, किन्तु उनका अभिप्राय यही द्योतित होता है। अभागे प्राणी शब्द से शूद्रों के प्रति उनकी करुणा प्रकट होती है।

—एल-65 न्यू इन्दिरा नगर,
ए अहिंसा मार्ग, बुरहानपुर

पचास वर्ष पूर्व

सत्य अनेकान्तात्मक है

—बाबू जयभगवान जैन, वकील

सत्य[1] अनेकान्तात्मक है या अनन्तधर्मात्मक है, इस वाद के समर्थन में इतना कहना ही पर्याप्त होगा कि सत्य का अनुभव बहुरूपात्मक है। जीवन में व्यवहारवश वा जिज्ञासावश सब ही सत्य का निरन्तर अनुभव किया करते है; परन्तु क्या वह अनुभव सबका एक-समान है? नहीं, वह बहुरूप है। अनुभव की इस विभिन्नता को जानने के लिये जरूरी है कि तत्त्ववेताओं के सत्यसम्बन्धी उन गूढ मन्तव्यों का अध्ययन किया जाय, जो उन्होंने सत्य के सूक्ष्म निरीक्षण, गवेषण और मनन के बाद निश्चित किये हैं। इस अध्ययन से पता चलेगा कि यद्यपि उन सबके अन्वेषण का विषय एक सत्यमात्र था, तो भी उसके फलस्वरूप जो अनुभव उनको प्राप्त हुए हैं, वे बहुत ही विभिन्न हैं—विभिन्न ही नहीं किन्तु एक दूसरे के विरोधी भी प्रतीत होते हैं।

आधिदैविकदृष्टि (Animistic Outlook) रखनेवाले भोगभौमिक लोग समस्त अनुभव्य बाह्य जगत और प्राकृतिक अभिव्यक्तियों को अनुभावक अर्थात् अपने ही समान स्वतन्त्र, सजीव, सचेष्ट सत्ता मानते हैं। वे उन्हें अपने ही समान हावभाव, आयोजन प्रयोजन, विषय-वासना, इच्छा-कामना से ओतप्रोत पाते हैं। वे जलबाढ, उल्कापात, वज्रपात, अग्निज्वाला, अतिवृष्टि, भूकम्प, रोग, मरी, मृत्यु आदि नियम विहीन उपद्रवो को देखकर निश्चित करते हैं कि यह जगत नियम विहीन, उच्छृङ्खल देवताओं का क्रीडास्थल है।[2] मनुष्य की यह आरम्भिक अधिदैविकदृष्टि ही संसार के प्रचलित देवतावाद (Theism) और पितृवाद (Ancestorworshiop) की कारण हुई है। यही वैदिक ऋषियों की दृष्टि थी।

अनुभव्यदृष्टि (Objective outlook) वाले जड़वादी वैज्ञानिक अनुभव्यजगत

(object) को ही सत्य मानते हैं और अनुभावक आत्मा (Subject) को स्थूल जड़ की ही एक अभिव्यक्ति समझते हैं। यह दृष्टि ही जड़वाद की आधार है। वे लोग, जगत में नियमानुशसित व्यवस्था का अनुभव करते हैं, प्रत्येक प्राकृतिक अभिव्यक्ति को विशेष कारणों का कार्य बतलाते हैं, उन कारणों में एक क्रम और नियम देखते हैं और उन कारणों पर विजय पाने से अभिव्यक्तियों पर विजय पाने का दावा करते हैं। उनके लिये अभिव्यक्ति और कारणों का कार्यकारण सम्बन्ध इतना निश्चित और नियमित है कि ज्योतिषज्ञ, शकुनविज्ञ, सामुद्रिकज्ञ आदि नियत विद्याओं के जानने वाले वैज्ञानिक, विशेष हेतुओं को देखकर, भविष्य में होने वाली घटनाओं तक को बतला देने में अपने को समर्थ मानते हैं। सच पूछिये तो यह कार्यकारण सम्बन्ध (Law of causation) ही इन तमाम विज्ञानों का आधार है।

अनुभावकदृष्टि (Subjective outlook) को ही महत्ता देने वाले तत्त्वज्ञ आत्मा को ही सर्वस्व सत्य मानते हैं। ज्ञान-द्वारा अनुभव में आने वाले जगत को स्वप्नतुल्य मोहग्रस्त ज्ञान की ही सृष्टि मानते हैं। उनके विचार में ज्ञान से बाहर अनुभव्य-जगत (Objective reality) की अपनी कोई स्वतः सिद्ध सत्त नहीं है। यह दृष्अि ही अनुभव-मात्रवाद (Idealism) की जननी है और शंकर के अद्वैतवाद का आधार है[3]।

व्यवहारदृष्टि (Practical View) से देखने वाले चार्वाक लोग उन ही तत्त्वों को सत्य मानते हैं जो वर्तमान लौकिक जीवन के लिये व्यवहार्य और उपयोगी हैं। इस दृष्टि से देखने वालों के लिये परलोक कोई चीज नहीं। उन अपराधों और परोपकारी कार्यो के अतिरिक्त, जो समाज और राष्ट्र-द्वारा दण्डनीय और स्तुत्य हैं, पुण्य-पाप और कोई वस्तु नहीं। कञ्चन और कामिनी ही आनन्द की वस्तुएं हैं। वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी ही परमतत्त्व हैं। वे ही प्रत्येक वस्तु के जनक और आधार हैं। मृत्युजीवन का अन्त है। इन्द्रिय बोध ही ज्ञान है—इसके अतिरिक्त और प्रकार का ज्ञान केवल भ्रममात्र है। इन्द्रिय बोध से अनुभव में आने वाली प्रकृति ही सत्य है[4]।

यह दृष्टि ही सामाजिक और राजनैतिक अनुशासन की दृष्टि है।

नैगमदृष्टि या संकल्पदृष्टि (Imaginary View) से देखने वाले वस्तु की भूत और भावी अवस्था अनुपस्थित होते हुए भी, संकल्प शक्ति द्वारा उपादान और अयोजन की सदृश्यता और विभन्न कालिक अवस्थाओं की विशेषताओं को संयोजन करते हुए वस्तु को वर्तमान में त्रिकालवर्ती सामान्य-विशेषरूप देखते हैं[5]। यह दृष्टि ही कवि लोगों की दृष्टि है।

नैय्यायिकदृष्टि (Logical View) से देखने वाले वस्तु को सम्बन्ध द्वारा संकलित विभिन्न सत्ताओं की एक संगृहीता व्यवस्था मानते हैं। उनका मूलसिद्धान्त यह है कि प्रत्येक अनुभूति के अनुरूप कोई सत्ता जरूर है, जिसके कारण अनुभूति होती है। चूंकि ये अनुभूतियाँ सप्त मूल वर्गों में विभक्त हो सकती हैं—द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, सम्बन्ध (समवाय?) और अभाव। अतः सत्य का इन सात पदार्थों से निर्माण हुआ है। यह दृष्टि ही वैशेषिक और न्यायदर्शन को अभिप्रेत है[6]।

अनुभूति के शब्दात्मक निर्वाचन पर भी न्यायविधि से विचार करने पर हम उपर्युक्त प्रकार के ही निष्कर्ष पर पहुँचते हैं। संसार में वाक्य-रचना इसीलिये अर्थद्योतक है कि वह अर्थ वा सत्यानुभूति के अनुरूप है। वह सत्यरचना का प्रतिबिम्ब है। जैसे वाक्य, कर्ता, क्रिया, विशेषण सूचक शब्दों वा प्रत्ययों से संगृहीत एक शब्द-समूह है वैसे ही वस्तु भी द्रव्य, गुण, कर्म पदार्थों का समवाय-सम्बन्ध से संकलित विभिन्न सत्ताओं का समूह हैं[7]।

वर्तमान इन्द्रियबोध को महत्ता देने वाले ऋजुसूत्रदृष्टि (Physical View) वाले वस्तु को निरन्तर उदय में आने वाली, अनित्य पर्यायों, भावों और क्रियाओं की एक शृङ्खला मात्र अनुभव करते हैं। वे उस उद्भव के उपादान कारण रूप किसी नित्य आधार को नहीं देख पाते। क्योंकि वे वस्तु की भूत तथा भावी अवस्था को लक्ष्य में न लाकर केवल उसकी वर्तमान अवस्था को ही लक्ष्य बनाते हैं। उनका कहना है कि चूंकि इन्द्रियों द्वारा जो कुछ भी बाह्यजगत का बोध होता है, वह ज्ञेय पदार्थ के शृङ्खलाबद्ध विकारों का फल है, इसलिये वस्तु परिणामों की शृङ्खलामात्र है। यह दृष्टि ही क्षणिकवादी बौद्ध दार्शनिकों की है[8]। यही दृष्टि आधुनिक भूतविद्याविज्ञों की है[9]।

ज्ञानदृष्टि (Epistimological View) से देखने वाले तत्त्ववेत्ता, जो ज्ञान के स्वरूप के आधार पर ही ज्ञेय के स्वरूप का निर्णय करते हैं, कहते हैं कि वस्तु वस्तुबोध के अनुरूप अनेक लक्षणों से विशिष्ट होते हुए भी, एक अखण्ड, अभेद्य सत्ता है। अर्थात् जैसे ज्ञान विविध, विचित्र अनेकान्तात्मक होते हुए भी खण्ड-खण्डरूप अनेक ज्ञानों का संग्रह नहीं है, प्रत्युत आत्मा का एक अखण्ड अभेद्य भाव है, वैसे ही ज्ञान-द्वारा ज्ञात वस्तु भी अनेक गुणों और शक्तियों का सामूहिक संग्रह नहीं है बल्कि एक अभेद्य सत्ता है।

सामान्य-ज्ञेयज्ञान की दृष्टि का संग्रहदृष्टि (Synthetic view) वाले तत्त्वज्ञों को वस्तु एकतात्मक अद्वैतरूप प्रतीत होती है। ऐसा मालूम होता है कि समस्त चराचर जगत एकता के सूत्र में बंधा है, एकता के भाव से ओत-प्रोत है, एकता का भाव सर्वव्यापक, शाश्वत और स्थायी है। अन्य समस्त भाव औपाधिक और नैमित्तिक हैं, अनित्य हैं और मिथ्या हैं। यही दृष्टि थी जिसके आवेश में ऋग्वेद 1-164-46 के निर्माता ऋषि को वैदिक कालीन विभिन्न देवताओं में एकता का मान जग उठा और उसकी हृदयतन्त्री से 'एकं सत् विप्राः बहुधा-वदन्ति' का राग बह निकला। यह दृष्टि ही वेदान्त-दर्शन की दृष्टि है[10]।

विशेष-ज्ञेयज्ञान की दृष्टि वा भेददृष्टि (Analytic-view) से देखने पर, वस्तु अनेक विशेष भावों की बनी हुई प्रतीत होती है। प्रत्येक भाव भिन्न स्वरूप वाला, भिन्न संज्ञावाला दिखाई पड़ता है। जितना जितना विश्लेषण किया जाय, उतना ही उतना विशेष भाव में से अवान्तर विशेष और अवान्तर विशेष में से अवान्तर विशेष निकलते निकलते चले जाते हैं, जिसका कोई अन्त नहीं है। यही दृष्टि वैज्ञानिकों की दृष्टि है। यह दृष्टि ही विभिन्न विज्ञानों की सृष्टि का कारण है।

समन्वयकारि-ज्ञान की दृष्टि (Philosophical View) से देखने पर वस्तु सामान्य विशेष, अनुभाव-अनुभव्य, (subjective and objective), भेद्य-अभेद्य, नियमित-अनियमित, नित्य-अनित्य, एक-अनेक, सत्-असत् तत्-अतत् आदि अनेक सहवर्ती प्रतिद्वन्दों की बनी हुई एक सुव्यवस्थित, संकलनात्मक, परन्तु

अभेद्य सत्ता दिखाई पड़ती है, जो सर्वदा सर्व ओर प्रसारित, विस्तृत और उद्भव हो रही है[11]। यह दृष्टि ही 'वीरशासन' की दृष्टि है। इसी दृष्टि द्वारा निष्पक्ष हो, साहसपूर्वक विविध अनुभवों का यथाविधि और यथास्थान समन्वय करते हुए सत्य की ऐसी विश्वव्यापी सर्वग्राहक धारणा बनानी चाहिये जो देश, काल और स्थिति से अविच्छिन्न हो, प्रत्यक्ष-परोक्ष तथा तर्क-अनुमान किसी भी प्रमाण से कभी बाधित न हो, युक्तिसंगत हो और समस्त अनुभवों की सत्यांशरूप संतोषजनक व्याख्या कर सके।

क्या सत्यनिरीक्षण की इतनी ही दृष्टियाँ हैं जिनका कि ऊपर विवेचन किया गया है? नहीं, यहाँ तो केवल तत्त्ववेत्ताओं की कुछ दृष्टिओं की रूपरेखा दी गई है। वरना व्यक्तित्व, काल, परिस्थिति और प्रयोजन की अपेक्षा सत्यग्रहण की दृष्टियाँ असंख्यात प्रकार की हैं। और दृष्टि अनुरूप ही भिन्न भिन्न प्रकार से सत्यग्रहण होने के कारण सत्य सम्बन्धी धारणायें भी असंख्यात हो जाती हैं[12]।

तत्त्वज्ञों की मान्यताओं में विकार ससांर के तत्त्वज्ञों की धारणाओं में सबसे बड़ा दोष यही है कि किसी ने एक दृष्टि को, किसी ने दूसरी दृष्टि को, किसी ने दो वा अधिक दृष्टियों को सम्पूर्ण सत्य मानकर अन्य समस्तदृष्टियों का बहिष्कार कर दिया है। यह बहिष्कार ही उनकी सबसे बड़ी कमजोरी और निःस्साहस है। इस बहिष्कार ने ही अनेक विरोधाभासि-दर्शनों को जन्म दिया है[13]।

धर्मद्रव्य अर्थात् Ether के बहिष्कार ने आत्मा और प्रकृति के पारस्परिक सम्बन्ध के समझाने में कठिनाई उपस्थित की है। आत्मा और मन का बहिष्कार दूसरी कमजोरी है। यह बहिष्कार ही जड़वाद का आधार हुआ है। प्रकृति का बहिष्कार भी कुछ कम भूल नहीं है—इसने संकीर्ण अनुभव-मात्रवाद (Idealism) को जन्म दिया है। जीवन के व्यवहार्य पहलू पर अधिक जोर देने से लोकायत-मार्ग को महत्व मिला है। लौकिक जीवन-चर्या—जीवन के व्यवहार्य पहलू को बहुत गौण करने से छायावाद का उदय हुआ है[14]।

सत्यानुभूति के साथ जीवनलक्ष्य का घनिष्ट सम्बन्ध — जगत और जीवन-

सम्बन्धी विविध अनुभूतियों और धारणाओं के साथ साथ जीवन के आदर्श और लक्ष्य भी विविध निर्धारित हुए हैं। वह लक्ष्य तात्कालिक इन्द्रिय सुख से लेकर दुष्प्राप्य आध्यात्मिक सुख तक अनेक भेदवाला प्रतीत होता है।

लौकिक दृष्टिवालों के लिये, अर्थात् उन लोगों के लिये जो व्यवहार में प्रवृत्त वर्तमान लौकिक जीवन को ही सर्वस्व समझते हैं, जो इसी को जीवन का आदि और अन्त मानते हैं, जो जीवन को भौतिक इन्द्रिय की एक अभिव्यक्ति देखते हैं, यह संसार सुखमय प्रतीत होता है। उनके लिये इन्द्रिय-सुख ही जीवन का रस और सार है। इस रस से मनुष्य को वञ्चित नहीं करना चाहिये। जड़वादी चार्वाक-दार्शनिकों (Hedonsists) का ऐसा ही मत है[15]। परन्तु पारमार्थिकदृष्टि (Transcendental view) वालों के लिये, जो वर्तमान जीवन को अनन्तप्रवाह का एक दृश्यमात्र मानते हैं, जिनके लिये जन्म आत्मा का जन्म नहीं है और मृत्यु आत्मा की मृत्यु नहीं है और जिनके लिये 'अहं' प्रत्यय रूप आत्मा शरीर से भिन्न एक विलक्षण, अजर, अमर, सच्चिदानन्द सत्ता है, संसार दुखमय प्रतीत होता है और इन्द्रिय सुख निस्सार तथा दुःख का कारण दिखाई पड़ता है[16]।

अनुभव की तरह सत्य के प्रति प्राणियों का आचार भी बहुरूपात्मक है – सत्य का-जीवन लक्ष्य का - अनुभव ही बहुरूपात्मक नहीं है प्रत्युत इन अनुभवों के प्रति क्रिया रूप प्राणधारियों ने अपने जीवन निर्वाह के लिये अपने जीवन को निष्कण्टक, सुखमय और समुन्नत बनाने के लिये जिन मार्गो को ग्रहण कर रखा है, वे भी विभन्न प्रकार के हैं। कोई भोगमार्ग को कोई त्याग मार्ग को, कोई श्रद्धा मार्ग को, कोई भक्ति मार्ग को, कोई ज्ञान मार्ग को, कोई कर्मयोग को, कोई हठयोग को उपयोगी मार्ग बतलाते हैं।

ये समस्त मार्ग दो मूल श्रेणियों में विभक्त किये जा सकते हैं– एक प्रवृत्तिमार्ग दूसरा निवृत्तिमार्ग[17]। पहला मार्ग बाह्यमुखी और व्यवहार दृष्टिवाला है, दूसरा मार्ग अन्तर्मुखी और आध्यात्मिकदृष्टिवाला है और पारमार्थिक कल्पनाओं को लिये हुए है। पहला अहंकार, मूढ़ता और मोह की उपज है, दूसरा आत्मविश्वास, सत्ज्ञान और पूर्णता की उत्पत्ति है। पहला प्रेयस है दूसरा

श्रेयस है। पहला इन्द्रियतृप्ति, इच्छापूर्ति और आडम्बर-संचय का अनुयायी है। दूसरा इन्द्रियसंयम, इच्छानिरोध और त्याग का हामी है। पहला अनात्म, बाह्य, स्थूल पदार्थो का ग्राहक है। दूसरा स्वाधीन, अक्षय, सर्वप्राप्य सूक्ष्म-दशा का अन्वेषक है। पहला जन्ममरणाच्छादित नाम-रूप-कर्मवाले संसार की जननी और धात्री है। दूसरा इस संसार का उच्छेदक और अन्तकर है। जीवन के सब मार्ग इन ही दो मूल मार्गो के अवान्तरभेद हैं।

सत्य-सम्बन्धी आचार और विचार में जो सर्व ओर विभिन्नता दिखाई देती है, वह बहुरूपात्मक सत्य का ही परिणाम है।

सत्य अनेक सत्यांशों की व्यवस्थात्मक सत्ता है– यह प्रत्यक्ष सिद्ध है कि एक बात को निश्चित रूप से जानने के लिये हमें कितनी ही और बातों को जानना जरूरी होता है। यह सब इसलियें न कि जो बात हमें जाननी अभीष्ट है, उसकी लोक में कोई स्वतन्त्र सत्ता नहीं है। वह तो विराट सत्य का एक सत्यांश मात्र है[18]। ये समस्त सत्यांश, समस्त तत्त्व, जिनको जानने की हमें इच्छा है, गुण-गुणी, कारण-कार्य, साधन-साध्य, वाचक-वाच्य, ज्ञान-ज्ञेय, आधर-आधेय आदि अनेक सम्बन्धों द्वारा एक दूसरे के इतने आश्रित और अनुगृहीत हैं कि यदि हमें एक तत्त्व का सम्पूर्ण बोध हो जाय तो वह सम्पूर्ण तत्त्वों का, सम्पूर्ण सत्य का बोध होगा। इसीलिये ऋषियों ने कहा है कि जो ब्रह्म को जानता है वह ब्रह्माण्ड को जानता है[19]। इसलिये आत्मा ही ज्ञातव्य है, मनन करने योग्य है, श्रद्धा करने योग्य है। इसको जानने से सर्वका जानने वाला, सर्वज्ञ हो जाता है[20]। इस प्रकार का बोध ही जो समस्त सत्यांशों का, समस्ततत्त्वों का, उनके पारस्परिक सम्बन्धों और अनुग्रह का युगपत जानने वाला है, जैन परिभाषा में 'केवलज्ञान' कहलाता है। यह बोध, लोक-अनुभावित सामान्य-विशेष, एक-अनेक, नित्य-अनित्य, भेद्य-अभद्य, तत्-अतत् आदि समस्त प्रतिद्वन्दों की बनी हुई सुव्यवस्थित सत्ता का युगपत् बोध होने के कारण उपर्युक्त समस्त विरोधाभासों परिमाणों (?), विकल्पों, त्रुटियों और अपूर्णताओं से रहित है। यह अद्वितीय और विलक्षण बोध है[21]। वास्तव में जो सम्पूर्ण सत्य को जानता है वही सम्पूर्णतया सत्यांश को जानता है। और जो सम्पूर्णतया

सत्यांश को जानता है वही सम्पूर्ण सत्य को जानता है। जो सम्पूर्ण सत्य को नहीं जानता वह पूर्णतया सत्यांश को भी नहीं जानता[22]।

सत्य अल्पज्ञों द्वारा पूरा नहीं जाना जा सकता – जीवन और जगत की रचना और व्यवस्था, जीवन के लक्ष्य और मार्ग, लोक के उपादान कारणभूत द्रव्यों के स्वरूप और शक्तियों के सम्बन्ध में यद्यपि तत्त्वज्ञों ने बहुत कुछ अनुभव किया है– बहुत कुछ भाषा द्वारा उसका निर्वाचन भी किया है–यह सबकुछ होने पर भी यह नहीं कहा जा सकता कि किसी भी प्रस्तुत विषय-सम्बन्धी जो कुछ अनुभव होना था सो हो चुका और जो कुछ कहने योग्य था वह कहा जा चुका।

वस्तु इन समस्त अनुभवों और निर्वाचनों से प्रदर्शित होने के बावजूद भी इनसे बहुत ज्यादा है। वह तो अनन्त है–वह काल क्षेत्र परिमित इन्द्रिय बोध, अभिप्राय-परिमित बुद्धि और अवयवमयी जड शब्दों से नहीं ढका जा सकता।

जिज्ञासुओं का अनुभव इस बात का साक्षी है कि जितना जितना गहरा अध्ययन किया जाता है, जितना जितना बोध बढ़ता जाता है, उतना उतना ही ज्ञातव्यविषय का अज्ञात अन्तर्हित क्षेत्र और अधिक गहरा और विस्तीर्ण होता चला जाता है। ऐसी स्थिति में विचारक को, महान तत्त्ववेता सुकृतीश के शब्दों में, वस्तु की असीम-अथाह अनन्तता और अपनी बुद्धि की अल्पज्ञता का अनुभव होने लगता है। उसे प्रतीत होता है कि वस्तुतत्त्व न वचनों से मिल सकता है, न बुद्धि से प्राप्त हो सकता है और न शास्त्र का पाठ करने से पाया जा सकता है[23]। इसलिये औपनिषदिक शब्दों में कहा जा सकता है कि जो यह कहता है कि मैं बहुत जानता हूँ वह कुछ नहीं जानता और जो यह कहता है कि मैं कुछ नहीं जानता वह बहुत कुछ जानता है[24]।

जैन परिभाषा में विचारक के इस दुःखमय अनुभव को कि इतना वस्तु सम्बन्धी कथन सुनने, शास्त्र पढ़ने, मनन करने और विचारने पर भी उसको वस्तु का सम्पूर्ण ज्ञान न हो पाया और वस्तु ज्ञान अभी बहुत दूर है,

'अज्ञानपरिषह' से प्रकट किया गया है[25]।

अज्ञानवाद और संशयवाद की उत्पत्ति के कारण भी उपर्युक्त भाव हैं – इस अनुभव के साथ ही विचारक के हृदय में ऐसी आशंका पैदा होने लगती है कि क्या सत्य का वास्तविक स्वरूप ज्ञानगम्य है भी। उसकी बुद्धि सन्दिग्धवाद और अज्ञानवाद से अनुरचित हो जाती है। वह ऋग्वेद 10-129 सूक्त के निर्माता ऋषि परमेष्ठी की तरह सोचने लगता है कि "कौन पुरुष ऐसा है जो जानता है कि सृष्टि क्यों बनी और कहाँ से बनी और इसका क्या आधार है। मुमकिन है कि विद्वान लोग इस रहस्य को जानते हों। परन्तु यह तत्त्व विद्वान लोग कैसे बतला सकते हैं। यह रहस्य यदि कोई जानता होगा तो वही जानता होगा जो परम व्योम में रहने वाला अध्यक्ष है[26]।

वह पारस देश के सुप्रसिद्ध कवि, ज्योतिषज्ञ और तत्त्वज्ञ उमरखय्याम की तरह निराशा से भरकर कहने लगता है[27]।

भूमण्डल के मध्य भाग से उठकर मैं ऊपर आया।
सातों द्वार पार कर ऊँचा शनि का सिंहासन पाया।।
कितनी ही उलझनें मार्ग में सुलझा डाली मैंने किन्तु।
मनुज-मृत्यु की और नियति की खुली न ग्रन्थिमयीमाया 31
यहाँ 'कहाँ से क्यों' न जानकर परवश आना पड़ता है।
वाहित विवश वारि-सा निजको नित्य बहाना पड़ता है।
कहाँ चले? फिर कुछ न जानकर इच्छा हो, कि अनिच्छा हो
परपटपर सरपट समीर-सा हमको जाना पड़ता है।।

तत्त्वज्ञों के इस प्रकार के अनुभव ही दर्शन-शास्त्रों के सन्दिग्धवाद और अज्ञानवाद सिद्धान्तों के कारण हुए हैं। तो क्या सन्दिग्धवाद और अज्ञानवाद सर्वथा ठीक हैं? नहीं। सन्दिग्धवाद और अज्ञानवाद भी सत्यसम्बन्धी उपर्युक्त अनक धारणाओं के समान एकान्तवाद हैं, एक विशेष प्रकारक के अनुभव की उपज हैं।

इस अनुभव का आभास विचारक को उस समय होता है जब वह व्यवहार्य

सत्यांश बोध के समान ही विराट सत्य का सूक्ष्म सत्य का बोध भी इन्द्रियज्ञान, बुद्धि और शास्त्राध्ययन के द्वारा हासिल करने की कोशिश करता है। इस प्रयत्न में असफल रहने के कारण वह धारण करता है कि सत्य-सर्वथा अज्ञेय है।

पूर्णसत्य केवलज्ञान का विषय है— परन्तु वास्तव में सत्य सर्वथा अज्ञेय नहीं है। सत्य अनेक धर्मो की अनेक सत्यांशों की, अनेक तत्त्वों की व्यवस्थात्मक सत्ता है। उनमें से कुछ सत्यांश जो लौकिक जीवन के लिये व्यवहाय हैं और जिन्हें जानने के लिये प्राणधारियों ने अपने को समर्थ बनाया है, इन्द्रियज्ञान के विषय हैं, निरीक्षण और प्रयोगों (Experiments) द्वारा साध्य हैं। कुछ बुद्धि और तर्क से अनुभव्य है, कुछ श्रुति के आश्रित हैं, कुछ शब्द-द्वारा कथनीय हैं और लिपि-बद्ध होने योग्य हैं। परन्तु पूर्णसत्य इन इन्द्रिय-ग्राह्य, बुद्धिगम्य और शब्दगोचर अत्यांशों से बहुत ज्यादा है। वह इतना गहन और गम्भीर है—बहुलता, बहुरूपता और प्रतिद्वन्द्वों से ऐसा भरपूर है कि उसे हम अल्पज्ञजन अपने व्यवहृत साधनों-द्वारा—इन्द्रिय निरीक्षण, प्रयोग, तर्क, शब्द आदि द्वारा—जान ही नहीं सकते; इसीलिये वैज्ञानिकों के समस्त परिश्रम जो इन्होंने सत्य-रहस्य का उद्घाटन करने के लिये आज तक किये हैं, निष्फल रहे हैं। सत्य आज भी अमेद्य व्यूह के समान अपराजित खड़ा हुआ है।

वास्तव में बात यह है कि इन्द्रिय, बुद्धि और वचन आदि व्यवहृत साधनों की सृष्टि पूर्णसत्य को जानने के लिये नहीं हुई। उनकी सृष्टि तो केवल लौकिक जीवन के व्यवहार के लिये हुई है। इस व्यवहार के सत्य-सम्बन्धी जिन जिन तत्त्वों का जितनी जितनी मात्रा में जानना और प्रकट करना आवश्यक और उपयोगी है उसके लिये हमारे व्यवहृत साधन ठीक पर्याप्त हैं। परन्तु पूर्णसत्य इन सत्यांशों से बहुत बड़ा है, उसके लिये उपर्युक्त साधन पर्याप्त नहीं हैं। "वह इन्द्रिय बोध, तर्क और बुद्धि से परे है— वह शब्द के अगोचर है—वह हम अल्पज्ञों-द्वारा नहीं जाना जा सकता। इस अपेक्षा हम सब ही अज्ञानी और सन्दिग्ध हैं[28]। पूर्णसत्य उस आवरणरहित, निविकल्प, साक्षात-अन्तरंग ज्ञान का विषय है, जो दीर्घतपश्चरण और समाधि-द्वारा कर्मक्लेशों से मुक्त होने पर

योगीश्वरों को प्राप्त होता है, जो ज्ञान की पराकाष्ठा है, जो केवलज्ञान के नाम से प्रसिद्ध है[29]। जिसके प्राप्त होने पर आत्मा सर्वज्ञ, सर्वानुभू[30] सर्ववित् कहलाता है।''

प्रत्येक मनुष्य अपनी वर्तमान अविकसित दशा में इस केवलज्ञान का पात्र नही है। केवलज्ञान तो दूर रहा, साधारणतया अधिकांश मनुष्य तो सत्य को देखते हुए भी इसे नहीं देख पाते और सुनते हुए भी उसे नहीं सुन पाते[31], अतः जो सत्य का लब्धा, ज्ञाता और वक्ता है वह निःसन्देह बहुत ही कुशल और आश्चर्यकारी व्यक्ति है[32]।

श्रद्धामार्ग का कारण भी उपर्युक्त आप्तत्व ही है– यही कारण है कि सब ही धर्मपन्थनेताओं ने साधारण जनता के लिये, जो अल्पज्ञान के कारण बच्चों के समान है अन्तःअनुभवी ऋषि और महापुरुषों के अनुभवों, मन्तव्यों और वाक्यों को ईश्वरीय ज्ञान ठहराकर–आप्तवचन कहकर–उन पर श्रद्धा, विश्वास और ईमान लाने के लिये बहुत जोर दिया है। इस श्रद्धापूर्वक ही जीवन-निर्वाह करने को श्रेयस्कर बतलाया है। प्रत्येक धार्मिक सम्प्रदाय का बतलाया हुआ मार्ग, उसके बतलाये हुए सिद्धान्तों पर श्रद्धा करने से प्रारम्भ होता है।

वाच्य और उसके अनेक वाच्य– यह सत्य के बहुविध अनुभव की ही महिमा है कि सत्य का बहुविध-साधनों, बहुविध संज्ञाओं और बहुविध-शैली से सदा प्रदर्शन किया जाता रहा है। इसी के प्रदर्शन के लिये शब्द, स्थापना, द्रव्य, भाव आदि साधनों से काम लिया जाता है। इस ही वाच्य के अनेक वाचक शब्द प्रसिद्ध हैं। उस ही के सुगम बोध के लिये आलंकारिक और तार्किक शैली प्रचलित है।

किसी वस्तु के वाचक जितने शब्द आज उपयोग में आ रहे हैं। उन सबके वाच्य अनुभव एक दूसरे से भिन्न हैं, परन्तु एक दूसरे के विरोधी नहीं हैं। वे एक ही वस्तु की भिन्न भिन्न पर्यायों के वाचक हैं और इसीलिये उनका नाम पर्यायवाची शब्द (Synonym) है। यह बात दूसरी है कि अज्ञानता के कारण आज उन सब शब्दों को हम बिना उनकी विशेषता समझे एक ही अर्थ में

उपयुक्त करें, परन्तु, भाषाविज्ञानीजन उन समस्त पर्यायवाची शब्दों की भिन्न विशेषता जानते हैं। ये विभिन्न पर्यायवाची शब्द एक ही देश, एक ही काल, एक ही जाति, एक ही व्यक्ति की सृष्टि नहीं हैं, प्रत्युत विभिन्न युगों, विभिन्न देशों, विभन्न जातियों और विभिन्न व्यक्तियों की सृष्टि हैं। यह बात शब्दों के इतिहास से ज्ञात हो सकती है।

हमारा ज्ञानगम्य और व्यवहारगम्य सत्य एकाधिक और सापेक्ष सत्य है– उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि हम केवल सत्यांशों का ग्रहण करते हैं पूर्णसत्य का नहीं। और सत्यांश में भी केवल उनका दर्शन करते हैं जो वर्तमान दशा में व्यवहार्य और जीवनोपयोगी हैं। साधारणजन का तो कथन ही क्या है, बड़े-बड़े तत्त्ववेत्ता भी अपनी अलौकिक प्रतिभा और तर्क द्वारा सम्पूर्ण सत्यांशों को नहीं जान पाते। आयुकर्म उनकी पूर्णता की प्रतीक्षा नहीं करता। अतः उन्हें अपने अधूरे अनुभवों के आधार पर ही अपने दर्शन का संकलन करना होता है। ये अनुभव सबके एक सामान नहीं होते। जैसा कि ऊपर बतलाया है, वे प्रत्येक के दृष्टि भेद के कारण विभिन्न प्रकार के होते हैं। दृष्टि की विभिन्नता ही विज्ञानों और दर्शनों की विभिन्नता का कारण है। परन्तु इस विभिन्नता का यह आशय नहीं है कि समस्त विज्ञान और दर्शन मिथ्या हैं या एक सत्य है और अन्य मिथ्या है। नहीं, सब ही विज्ञान और दर्शन वस्तु की उस विशेष दृष्टि की जिससे विचारक ने उसे अध्ययन किया है– उस विशेष प्रयोजन की जिसको पूर्ति के लिये मनन किया है, उपज हैं। अतः अपनी अपनी विवक्षित दृष्टि और प्रयोजन की अपेक्षा सब ही विज्ञान और दर्शन सत्य हैं।

कोई भी सिद्धान्त केवल इस कारण मिथ्या नहीं कहा जा सकता कि वह पूर्णसत्य न होकर सत्यांश-मात्र है। चूंकि प्रत्येक सत्यांश और उसके आधार पर अवलम्बित विज्ञान और दर्शन अपने अपने क्षेत्र में जीवनोपयोगी और व्यवहार में कायकारी हैं। अतः प्रत्येक सत्यांश अपनी अपनी दृष्टि और प्रयोजन की अपेक्षा सत्य है। सिद्धान्त उसी समय मिथ्या कहा जा सकता है कि जब वह पूर्ण-सत्य न होते हुए भी उसे पूर्णसत्य माना जावे[33]।

उदाहरण के लिये 'मनुष्य' को ही ले लीजिये, यह कितनी विशाल और

बहुरूपात्मक सत्ता है इसका अन्दाजा उन विभिन्न विज्ञानों को ध्यान में लाने से हो सकता है जो 'मनुष्य' के अध्ययन के आधार पर बने हैं। जैसे :- शारीरिक-रचनाविज्ञान (Anatomy), शारीरिक व्यापार विज्ञान (Physiology), गर्भविज्ञान (Emibryology), भाषा-विज्ञान (Phiology), मनोविज्ञान (Psychology), सामाजिक जीवन-विज्ञान (Sociology), जातिविज्ञान (Ethnology), मानव विर्वतविज्ञान (Anthropology), आदि। इनमें प्रत्येक विज्ञान अपने अपने क्षेत्र में बहुत उपयोगी और सत्य है। परन्तु कोई भी विज्ञान पूर्णसत्य नहीं है, क्योंकि 'मनुष्य' न केवल गर्भस्थ वस्तु है—न केवल सप्त-धातु-उपधातु-निर्मित अङ्गोपाङ्ग वाला एक विशेष आकृति का स्थूल पदार्थ है—न केवल श्वासोच्छवास लेता हुआ चलता-फिरता यन्त्र है—न केवल भाषाभाषी है... वह उपर्युक्त सब कुछ होता हुआ भी इनसे बहुत ज्यादा है। इसलिये प्रत्येक मनुष्य सम्बन्धी विज्ञान उस दृष्टि की अपेक्षा जिससे कि 'मनुष्य' का अध्ययन किया गया है— उस प्रयोजन की अपेक्षा जिसकी पूर्ति के लिये विज्ञान का निर्माण हुआ है, सत्य है और इसलिये उपयोगी है; परन्तु अन्यदृष्टियों, अन्यप्रयोजनों की अपेक्षा और सम्पूर्णसत्य की अपेक्षा वही विज्ञान निरर्थक है। अतः यदि उपर्युक्त विज्ञानों में से किसी एक विज्ञान को सम्पूर्ण मनुष्य विज्ञान मान लिया जाए तो वह हमारी धारणा मिथ्या होगी। अतः हमारा ज्ञानगम्य, व्यवहारगम्य सत्य एकांशिक सत्य, सापेक्ष सत्य है। वह अपनी विवक्षित दृष्टि और प्रयोजन की अपेक्षा सतय है। यदि उसे अन्यदृष्टि और अन्यप्रयोजन की कसौटी से देखा जाय या यदि उसे पूर्णसत्य मान लिया जाय तो वह निरर्थक, अनुपयोगी और मिथ्या होगा[31]।

सन्दर्भ

1. द्रव्य, वस्तु, अर्थ, सामान्य, सत्ता, तत्त्व आदि सत्य के ही एकार्थवाची नाम है। —पञ्चाध्यायी 1-143
2. (अ) Haeckle–Riddle of the universe P 32

   (आ) Loar Averburg–The origin of civilization 1912 P 242–245

   (इ) A A Macdonel – Vedic Mythology P 1
3. Das Gupta–A History of Indian Philosophy 1922, P 439

4. S Radha Knshnon–Indian Philosophy Vol 1, 2nd edition, P 279

5. (अ) राजवार्तिक पृ. 454 (आ) द्रव्यानुयोग तर्कण 6-9

6. Das Gupta–A History of Indian Philosophy, P 312

7. B. Russil–Analysis of Matter, 1927, P 39

8. Das Gupta– A History of Indian Philosophy 1922, P. 158

9. Russil– F R S The Analysis of Matter 1927, P 244-247

10. Das Gupta–A History of Indian Philosophy, P 177

11. (अ) B Russil–The Analysis of Matter London 1927 Chap-XXIII
(आ) तत्त्वार्थसूत्र 1-33 पर की हुई राजवार्तिक टीका
(इ) न्यायावतार, 29 की सिद्धर्षिगणि कृत टीका।

12. (अ) गोम्मटसार-कर्मकाण्ड, 894, (आ) हरिवंशपुराण, 58-62

13 गोम्मटसार-कर्मकाण्ड 895

14. Sir Oliver Lodge F R S –Ether and Reality, London, 1930 P 20

15. (अ) हरिभद्रसूरिः–षड्दर्शन समुचयः, 80-85
(आ) श्रीमाधवाचार्य–सर्वदर्शनसंग्रह-चार्वाक दर्शन
(इ) सूत्रकृतांग–2-1, 15-21
(ई) आदिपुराण 5, 53-75
(उ) दीघनिकाय–सामञ्जसफलसुत्त

16. (अ) उत्तराध्ययनसूत्र–13-16, 14-21-23।
(आ) कुन्दकुन्द–द्वादशानुप्रेक्षा।
(इ) बौद्ध साहित्य में 'ससार दुःखमय है' यह चार आर्यसत्यों में एक आर्यसत्य कहा गया है। धम्मपद 47, दीघनिकाय-महासतिपट्ठानसुत्त।
(ई) महाभारत-शान्तिपर्व, 175-1, 174-7-1213

17. (अ) कठोपनिषद् 2-1 (आ) मनुस्मृतिः 12 99, (इ) अंगुत्तरनिकाय 8-2-1-3

18. Sir Oliver Lodge, Ether and Reality P 19

19. तदात्मानमेव वेदहं ब्रह्मास्मीति तस्मात् तत्सर्व अभवत्। –शत. ब्रा. 143-2-21

20. (अ) आत्मा वा अरे द्रष्टव्यःश्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः। मैत्रेय्यात्मनो वा अरे दर्शनेन, श्रवणेन, मत्या, विज्ञानेनेदं सर्वं विदितम्। –वृहदा. उपनिषद् 2-4-5
(आ) एवं हि जीवरायो णदव्वो तहय सद्दहेदव्वो।
अणुचरिदव्वो य पुणो सो चेव दु मोक्खकामेण।
–समयसार, 1-18

21. (अ) तत्वार्थसूत्र 1-29 (आ) गोम्मटसार जीवकाण्ड, 459, (इ) आलापपद्धति।

22. प्रवचनसार 1-48

23. नायमात्मा प्रवचनेने लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन। कठोथानिषत् 2-22

24. यस्यामतं तस्यमतं, मतं यस्य न वेद सः।
अविज्ञातं विजानतां, विज्ञातमविजानताम्।।
— केनोपनिषद् 2-3

25. तत्वार्थसूत्र 9-9। उत्तराध्ययसूत्रं 2-2-45

26. श्रीनरदेव शास्त्री—ऋग्वेदालोचन, संवत् 1985, पृ. 203-205

27. रुबाइयात उमरखय्याम-अनुवादक श्री मैथिली-शरण गुप्त, 1931

28. (I) A E Taylor–Elements of Metaphysics, London 1924, P 412
(II) Sir Oliver Lodge–Ether and Reality, 1930, P 58 and 83
(III) गोम्मटसार जीवकाण्ड—गा. न. 333
(IV) पंचाध्यायी—2, 616

29. (अ) न्यायावतार— 27
(आ) योगदर्शन—"तदासर्वावरणमलापेतस्य ज्ञान-स्यानन्त्याज्ज्ञेयमल्पम्" 4-31
(इ) प्रश्नोपनिषत् 4-11। वृहदा. उपनिषत् 1-5-10

30. "ससर्वज्ञः सर्ववित्" मु. उ. 1-1-9। 'अयमात्मा ब्रह्मसर्वानुभू' वृ उ 2-5-19

31. "उत्त्वः पश्यन्नददर्श वाचमुतत्वश्रृणवन्नश्रृणोत्येनाम्" — ऋग्वेद 10-71-4

32. श्रवणयापि बहुभिर्योनलभ्यः श्रृण्वन्तोऽपिवहवो य न विद्य आश्चर्यो वक्ता कुशलोऽस्य लब्धाश्चर्यो ज्ञाता कुशलानुशिष्टा — कठोपनिषत् 2-7

33. A E Taylor–Elements of Metaphysics, London 1924–P 214
"For a proposition is never untrue simply becae it is not the whole truth, but only when, not being the whole truth, it is mistaken to be so"

34. (अ) द्रव्यानुयोगतर्कण—9-6
(आ) पञ्जाध्यायी— 1 590
(इ) निरपेक्षा नया मिथ्या सापेक्षा वस्तु तेऽर्थकृत्। — आप्तमीमांसा, 108।
(ई) A E Taylor–Elements of Metaphysics P. 214, Postnot "The degree of turth . a doctrine contains cannot be determined apart from consideration of the purpose it is meant to fulfil"

जैन दर्शन में वस्तु का अनेकान्तात्मक स्वरूप

—डॉ. बसन्तलाल जैन

"जेण विणा लोगस्स वि ववहारो सव्वहा ण णिव्वहदि।
तस्स भुवर्णेक्क गुरूणो णमो अणेगंतवायस्स।।"

जिनेन्द्र वर्णी के शब्दों में—"जो कुछ भी यहाँ दिखाई दे रहा है या व्यवहार में आ रहा है, उन सबको वस्तु या पदार्थ कहने का व्यवहार लोक में प्रचलित है। वस्तु, पदार्थ और द्रव्य तीनों का एक ही अर्थ है। इसी को सैद्धान्तिक भाषा में कहा जाता है कि जो सत्ता रखता है या जो सत् है वही वस्तु पदार्थ या द्रव्य है"।[1] इस प्रकार वस्तु द्रव्य, सत् पदार्थ आदि सब एक ही अर्थ का प्रतिपादन करते हैं। जैन दर्शन का वास्तववाद, वास्तविकता तथा सत्ता में भेद नहीं करता। उसके अनुसार वस्तु ही सत् है और सत्ता ही वस्तु है।

वस्तु के स्वरूप का विवेचन करते हुए दिगम्बराचार्य मल्लिषेण ने कहा है कि—"वसन्ति गुण पर्याया अस्मिन्निति वस्तु"[2] अर्थात् जिसमें गुण और पर्यायें रहती हैं, वह वस्तु है। यह परिभाषा दिगम्बराचार्य उमास्वामी जी की द्रव्य की परिभाषा से साम्यता रखती है। आचार्य उमास्वामी जी ने लिखा है कि—"गुण पर्यायवद्-द्रव्यम्"[3] अर्थात् गुण और पर्याय वाला द्रव्य है। इन परिभाषाओं से स्पष्ट है कि जैन मान्य वस्तु और द्रव्य एक ही अर्थ के द्योतक हैं। जिस प्रकार अग्नि का उष्णत्व से और जल का शीतलत्व से पृथक् अस्तित्व नहीं होता, उसी प्रकार गुण तथा पर्यायों से युक्त वस्तु का अपने गुण तथा पर्यायों से पृथक अस्तित्व नहीं होता।

बौद्धदर्शन की मान्यता है कि कोई भी वस्तु नित्य नहीं हो सकती। प्रत्येक वस्तु अपने उत्पन्न होने के दूसरे क्षण में ही नष्ट हो जाती है, क्योंकि नष्ट होना पदार्थो का स्वभाव है। कूटस्थ नित्य वस्तु में अर्थ क्रिया नहीं हो सकती और

वस्तु में अर्थक्रिया न होने से उसे सत् भी नहीं कहा जा सकता है। इस प्रकार बौद्धमत में क्षणस्थायी सत्ता को ही यथार्थ माना गया है।[4]

वेदान्त दर्शन के अनुसार जो सत् है, वह कभी परिवर्तित नहीं हो सकता, इसलिए ब्रह्म ही एक परम सत् है, जगत केवल आभास मात्र है। अज्ञान के कारण जगत में अनेकत्त्व दृष्टिगोचर होता है। यथार्थ में ब्रह्म ही एक मात्र वास्तविक सत्ता है।[5] सांख्य दर्शन ने नित्य और अनित्य दोनों सत्ताओं को पुरुष और प्रकृति के रूप में स्वीकार किया है। पुरुष नित्य, स्थिर और चेतन तत्त्व का द्योतक है और प्रकृति अनित्य, अस्थिर और अचेतन तत्त्व का द्योतक है।[6] न्याय वैशेषिक दर्शन में भी सत्ता के द्वैत को स्वीकार किया गया है। विश्व का निर्माण विभिन्न प्रकार के परमाणुओं और जीवात्माओं के सहयोग से हुआ है।[7]

मीमांसा दर्शन भी न्याय वैशेषिक की भांति बहुवादी है और भौतिक सत्ता के मूल में अनेक तत्त्वों को स्वीकार करता है, परन्तु मीमांसा दर्शन में स्थिरता के स्थान पर परिवर्तनशीलता के सिद्धान्त को माना है। नित्य होते हुए भी द्रव्य के रूप आगमापायी होते है।[8] इस प्रकार कुमारिल भट्ट ने पदार्थों के उत्पादव्यय और स्थिति रूप को स्वीकार किया है।

जैन दर्शन के अनुसार सत् को उत्पाद-व्यय और ध्रौव्य युक्त माना गया है। आचार्य उमास्वामी जी ने लिखा है कि "उत्पाद-व्यय-ध्रौव्ययुक्तं-सत्।"[9] अर्थात् उत्पाद व्यय और ध्रौव्य से सहित सत् का लक्षण है। यही लक्षण जैन दर्शन में सत् का लक्षण अन्य दर्शनों से पृथक करता है। जैन मान्य वस्तु या द्रव्य न तो वेदान्त की भांति पूर्ण कूटस्थ है और न ही सांख्य दर्शन की भांति सत्ता का चेतन भाग कूटस्थ-नित्य और अनित्य भाग परिणामि-नित्य है। इसी प्रकार जैनमान्य वस्तु बौद्ध दर्शन की भांति मात्र उत्पाद-व्यय, युक्त भी नहीं है। न्याय वैशेषिक की भांति जैनमत में चेतन व जड़ तत्त्वों में निष्क्रियता भी नहीं है।[10] जैन मान्यता अनुसार चेतन और जड़, मूर्त और अमूर्त, सूक्ष्म और स्थूल सभी सत् पदार्थ उत्पाद व्यय और ध्रौव्य रूप से त्रिरुप है।[11] प्रत्येक सत्तात्मक वस्तु में दो अंश विद्यमान होते हैं। वस्तु का एक अंश तीनों कालों

में शाश्वत रहता है, इसी कारण वस्तु को ध्रौव्य कहा जाता है और दूसरा अंश सदा परिवर्तित होता है जिसके कारण वस्तु को उत्पाद-व्यय युक्त कहा जाता है। दोनों अंशों पर दृष्टि डालने से ही वस्तु का पूर्ण और यथार्थ स्वरूप ज्ञात हो सकता है, दोनों दृष्टियों से समन्वित स्वरूप ही सत् है।

आचार्य गुणभद्र स्वामी ने वस्तु के अनेकान्तिक स्वरूप को प्रतिपादित करते हुए कहा है कि "शास्त्राभ्यास करने वाले ज्ञानी अनादि निधन समस्त जीवादि वस्तुओं के बारे में चिन्तवन करते है वस्तु विवक्षित स्वरूप को तथा उससे प्रतिपक्षी स्वरूप को प्राप्त होने पर भी नष्ट नहीं होती है।[12] दूसरे शब्दों में आचार्य की बात को इस प्रकार कह सकते है कि शास्त्राभ्यास करने वाले ज्ञानी केवल शब्दों और अंलकारों में ही मन को नहीं रमाते, वे वस्तु स्वरूप का चिन्तन करते हैं कि जीवादि वस्तुएं नित्य भी हैं, अनित्य भी हैं सत्तारुप भी हैं असत्तारुप भी हैं, एक भी है अनेक भी है, तत् स्वरूप भी है, अतत् स्वरुप भी है। इस प्रकार परस्पर विरुद्ध धर्मस्वरुप जीवादि वस्तुएं कभी नष्ट नहीं होती सदा अपने स्वभाव रूप रहती हैं। अनादि निधन समस्त जीवादि पदार्थो का यही स्वरूप है। तत्त्वज्ञानी जीव शास्त्र द्वारा इस प्रकार चिन्तवन करते हैं। ऐसे चिन्तवन से उन्हें वस्तु स्वरूप भासित होता है जिससे सम्यग्दर्शन आदि प्राप्त करके वे अपना कल्याण कर लेते हैं।

एक ही वस्तु एक ही समय में ध्रौव्य उत्पाद-व्यय इन तीनों स्वरूप है— आचार्य गुणभद्र स्वामी ने एक वस्तु में एक ही समय में ध्रौव्य, उत्पाद, व्यय तीनों का एक साथ उपस्थिति का ज्ञान कराते हुए कहा है कि एक ही वस्तु एक ही समय में ध्रौव्य, उत्पाद, व्यय इन तीनों स्वरूप है, अन्यथा प्रमाण से अबाधित वस्तु में "यह वही है" ऐसी प्रतीति और 'यह अन्य है' ऐसी प्रतीति सिद्ध नहीं होगी।[13]

यदि एक ही अपेक्षा से वस्तु को तद्रूप भी कहा जाए और अतद्रूप भी कहा जाय तो भ्रम ही है, परन्तु यदि अन्य अपेक्षा से कहा जाय तो विरोध नही है, जैसे किसी पुरुष को एक ही व्यक्ति का पिता भी कहा जाय और पुत्र भी कहा जाय तो भ्रम ही है। परन्तु यदि उसे किसी व्यक्ति का पिता और किसी

अन्य व्यक्ति का पुत्र कहा जाय तो विरोध नहीं है, अपितु वस्तु स्वरूप की सिद्धि ही है। एक ही वस्तु नित्य भी है और अनित्य भी है। जैसे—कोई व्यक्ति पहले रंक था फिर राजा हो गया, वहां उसकी अवस्था पलटने की अपेक्षा उसमें अन्यत्व भासित होता है, इसलिए "यह अन्य है" ऐसा माना जाता है। परन्तु मनुष्यपने की अपेक्षा पहले भी मनुष्य था और अब भी वही मनुष्य है— ऐसा भासित होता है, इसलिए 'यह वही है' ऐसा माना जाता है। ऐसी प्रतीति प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों से बधित नहीं है, वस्तु स्वरूप 'ऐसा ही' भासित होता है इसलिए वही पुरुष एक समय में उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य स्वरूप को धारण करता है। जिस समय वह रंक से राजा हुआ, उसी समय राजापने का उत्पाद है, रंकपने का व्यय है और मनुष्यपना ध्रुव है।

वस्तु का स्वरूप सर्वथा एक नहीं हैं-अनेक अपेक्षाओं से अनेक स्वरूप है— वस्तु का स्वरूप सर्वथा एक न होकर अनेक अपेक्षाओं से अनेक स्वरूप है। सांख्य, नैयायिक, आदि मत वालों ने वस्तु को सर्वथा नित्य ही माना है, जबकि बौद्धमती सर्वथा क्षणिक ही मानते हैं। ज्ञानाद्वैत वादी बौद्धमती मात्र ज्ञान का ही अस्तित्व मानते हैं, बाह्य वस्तुए है ही नहीं, ऐसा मानते हैं। शून्यवादी बौद्धमती सभी वस्तुओं का अभाव मानते हैं। इस प्रकार अनेक लोग वस्तु को एकान्त रूप मानते हैं, परन्तु वस्तु स्वरूप ऐसा नहीं हैं, क्योंकि विचार करने पर ऐसे एकान्त में विरोध भासित होता है।

एक ही वस्तु में अवस्था बदले बिना अर्थ—क्रिया की सिद्धि नहीं होती, इसलिए वह सर्वथा नित्य कैसे हो सकती है? और अन्य-अन्य अवस्थाएं होने पर भी किसी भाव की नित्यता की अपेक्षा वस्तु सदैव एक रूप भासित होती है, इसलिए उसे सर्वथा क्षणिक कैसे माना जा सकता है? इसी प्रकार ज्ञान का अस्तित्व भी भासित होता है और बाह्य पदार्थो का अस्तित्व भी भासित होता है। यदि बाह्य पदार्थो की सत्ता न मानी जाय तो प्रमाण और अप्रमाण ज्ञान का विभाग नहीं हो सकता, इसलिए सर्वथा ज्ञान की ही सत्ता नहीं है। पदार्थो का अस्तित्व तो प्रत्यक्ष भासित होता है। यदि उनका अभाव मानें तो अभाव का प्रतिपादन करने वाले भी शब्दरूप पदार्थ हैं, अतः उनका भी अभाव रहेगा

और प्रत्यक्ष को झूठ कहना उचित नहीं है, इसलिए वस्तु सर्वथा अभावरूप नहीं है।

इस प्रकार सर्वथा एकान्त रूप वस्तु का स्वरूप नहीं है। वस्तु उस स्वरूप भी है और उस स्वरूप नहीं भी है। वस्तु द्रव्य की अपेक्षा नित्य है और पर्याय पलटने की अपेक्षा क्षण-विनश्वर है। ज्ञान में भासित होने की अपेक्षा ज्ञानमात्र है। बाह्य सत्तारूप वस्तुओं की अपेक्षा ज्ञानमात्र नहीं है, बाह्य वस्तु भी है। परद्रव्य-क्षेत्र काल-भाव की अपेक्षा नास्तिरूप होने से अभावरूप है और स्वद्रव्य क्षेत्र-काल-भाव की अपेक्षा अस्तिरूप होने से अभावरूप नहीं है सद्भाव रूप है। इस प्रकार अनादि-निधन अनेकान्त रूप वस्तु का स्वरूप है।

एक पदार्थ में उक्त अनेकान्त रूप घटित होता है। जैसे—एक जीव-चेतनत्वादि भावों की अपेक्षा नित्य भी है और नर-नारकादि पर्यायों की अपेक्षा अनित्य भी है। ज्ञान में प्रतिभासित जीवन के आकार की अपेक्षा ज्ञानमात्र भी है। जीव अपने अस्तित्व को लिए हुए स्वतंत्र पदार्थ भी है। पुदगल आदि के द्रव्य-क्षेत्र, काल भाव में जीव का सद्भाव भी है। इस प्रकार जैसे जीव अनेकान्त स्वरूप एक पदार्थ है, वैसे ही सभी पदार्थ अनादि निधन अनेक अपेक्षाओं से उस रूप भी है और उसरूप नहीं भी है। अतः जैसा वस्तु का स्वरूप है वैसा ही मानने पर सम्यग्ज्ञान होता है, इसलिए वैसा ही मानना चाहिए। आचार्य गुणभद्रस्वामी ने वस्तु का अनेक अपेक्षाओं से अनेक स्वरूप बताते हुए कहा है कि– "वस्तु सर्वथा नित्य अर्थात् स्थिर नहीं है, और सर्वथा क्षणिक अर्थात् विनाशी भी नहीं है। सर्वथा ज्ञानमात्र नहीं है और सर्वथा अभावरूप भी नहीं है, क्योंकि सर्वथा अखण्ड एक ही धर्मरूप प्रतिभासित होने में विरोध है, अविरोध रूप से ऐसा भासित नहीं होता क्योंकि वस्तु प्रतिसमय उस रूप (अपने स्वरूप) भी है और उस रूप नहीं भी है। वस्तु का अनादिनिधन स्वरूप ऐसा ही है। जैसे एक पदार्थ ऐसा अनेकान्त रूप भासित होता है, वैसे ही सभी पदार्थों का स्वरूप जानना चाहिए।[14]

जिस समय केवल वस्तु दृष्टिगत होती है और परिणाम दृष्टिगत नहीं होता उस समय द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा सर्व वस्तु नित्य है।[15] जिस समय

यहां केवल परिणाम दृष्टिगत होता है और वस्तु दृष्टिगत नहीं होती उस समय पर्यायार्थिक नय की अपेक्षा नवीन पर्याय रूप से उत्पन्न और पूर्व पर्याय रूप से विनष्ट होने से सब वस्तु अनित्य है।

सत्-असत् की तरह तत् अतत् भी विधि निषेध रूप होते हैं, किन्तु निरपेक्षपने नहीं, क्योंकि परस्पर सापेक्षपने से वे दोनों तत् अतत् भी तत्त्व हैं। कथंचित एकत्व बताना वस्तु की अखण्डता का प्रयोजक है।[16] स्यात् नित्य का फल चिरकाल तक स्थायीपना है। स्यादनित्य का फल निज हेतुओं के द्वारा अनित्य स्वभावी कर्म के ग्रहण व परित्यागादि होते हैं।[17]

सन्दर्भ

1. (क) जिनेन्द्रवर्णी, पदार्थविज्ञान 1982, पृष्ठ 6
   (ख) "हवदि पुणो अण्ण वा तम्हा दव्व सय सत्ता।" प्रवचनसार 2/13
2. मल्लिषेणाचार्य, स्याद्वादमंजरी, सन् 1935, श्लोक 23, पृष्ठ 262
3. आचार्य उमास्वामी, तत्त्वार्थसूत्र अध्याय 5, सूत्र 37
4. हरेन्द्रसिन्हा, भारतीय दर्शन की रूपरेखा, 1980, पृष्ठ 105
5 जगद्विक्तक्षणं ब्रह्मब्रह्मणोऽयत्र न किचन। शकराचार्य आत्मबोध सूत्र 63
6 सांख्य कारिका 11
7. हरेन्द्रसिन्हा, भारतीय दर्शन की रूपरेखा पृष्ठ 210
8. हरेन्द्रसिन्हा, भारतीय दर्शन की रूपरेखा पृष्ठ 232
9 आचार्य उमास्वामी, तत्त्वार्थसूत्र अध्याय 5, सूत्र 30
10. आचार्य उमास्वामी, तत्त्वार्थसूत्र अध्याय 5, सूत्र 7
11. संघवी सुखलाल, तत्त्वार्थसूत्र विवेचना, पृष्ठ 134
12. आचार्य गुणभद्रस्वामी, आत्मानुशासन गाथा 171
13. आचार्य गुणभद्रस्वामी, आत्मानुशासन 172

14. आचार्य गुणभद्रस्वामी, आत्मानुशासन 173

15 पंचाध्यायी पूर्व, श्लोक संख्या 339

16. पंचाध्यायी पूर्व, श्लोक संख्या 332, 442

17. नयचक्र, श्रुतभवन, पृष्ठ 65-67

—श्री दि. जैन श्रमण संस्कृति संस्थान
वीरोदय नगर, सांगानेर, जयपुर-राजस्थान

"ते उण ण दिट्ठ समओ।
विहयइ सच्चे व अलीए वा।।"

—जयधवला 1/233

अनेकान्त रूप समय के ज्ञाता पुरुष 'यह नय सच्चा है, यह नय झूठा' ऐसा विभाग नहीं करते हैं।